मानवतरंगिणी

तरंग ३

गर्जन

लेखक

भगवत शरण उपाध्याय, एम० ए०
(काशी-विश्वविद्यालय)

रचयिता—सबेरा, संघर्ष, नूरजहाँ आदि ।

प्रकाशक
सरस्वती-मंदिर
जतनबर, बनारस ।

प्रथम बार १०००]   १९४१   [मूल्य १।।)

गतिमती मानवता का इतिहास

उद्भ्रान्त विकल मानव को —

पुस्तकविक्रेता
नन्दकिशोर ऐण्ड ब्रदर्स,
चौक, बनारस सिटी।

मुद्रक
श्री अपूर्वकृष्ण वसु,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस ब्रांच।

वक्तव्य

प्रस्तुत संग्रह मानवतरंगिणी की तृतीय तरंग है। इसकी पहली सात कहानियाँ पुरी के समुद्रतट पर लिखी गईं। कहानियों का समय-प्रसार तृतीय शती ई० पू० से द्वितीय शती ई० है।

प्रो० पं० विश्वनाथ मिश्र, एम० ए०, साहित्यरत्न, का प्रूफ़-संशोधन के लिए मैं आभारी हूँ। प्रकाशकों की तत्परता के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

काशी-विश्वविद्यालय,
८-५-४१

भ० श० उ०

सूची

——

गर्जन
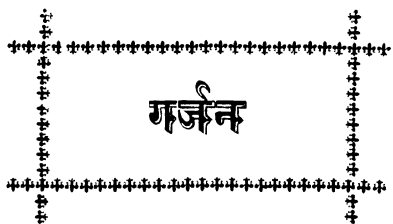
[प्रस्तुत कहानी का कथाभाग कल्पित है। भारत का विदेशों से बड़ा सामुद्रिक व्यापार था। विदेशी पोतों पर जलदस्युओं के आक्रमण भी होते थे। व्यापार का विवरण प्लिनी और पेरिप्लस (*Periplus of the Erythrean Sea*) के रचयिता दोनों ने दिया है। सिमुक सातवाहन अन्ध्र वंश का प्रतिष्ठापक था। ज्योतिष की पुस्तक गार्गीसंहिता के युगपुराण में 'दुष्टविक्रांत यवनों' द्वारा पाटलिपुत्र ('कुसुमध्वज') का ध्वंस होना लिखा है। कुसुमपुर ऐसा पुरुषों से रहित हो गया कि छः छः स्त्रियों ने एक एक पुरुष को वरा। ग्रीक राजाओं में सबके नाम ऐतिहासिक हैं परंतु अभी यह बताना संभव नहीं कि किस यवन-विशेष ने पाटलिपुत्र का ध्वंस किया था। लेखक को ऐसा जान पड़ता है कि पाटलिपुत्र का यह यवन-आक्रमण संभवतः दिमितिय (Demetrius, २००-२१९ ई०) का था, मिलिंद (Menander, १६०-१४० ई० पू०) का नहीं, क्योंकि प्रस्तुत कहानी का आक्रमण पुष्यमित्र के राज्यारोहण के पूर्व हुआ था जो संभवतः सोमशर्मा मौर्य के राज्यकाल में हुआ होगा। गार्गी-संहिता के अनुसार यह आक्रमण शालिशूक मौर्य (वायुपुराण का इंद्रपालित) के बाद ही हुआ था, इस कारण यह संभवतः सोमशर्मा मौर्य (वायुपुराण का दशवर्मा, देववर्मा) के राज्यकाल में हुआ था। पुष्यमित्र के समय का आक्रमणकारी यवनराज हारकर लौटा था। शूलपाणि कल्पित है। कावेरिपत्तन को करिकाल ने बाद में बसाया, परंतु इसका आरंभ पहले ही हो चुका होगा। यह अब बालू से भठ चुका है। कलिंग-पत्तन अब भी सागरतट पर बी० एन० आर० के चिकाकोल रोड के समीप सुरक्षित है। समय लगभग २०० ई० पू०।]

१७-१०-१९४०　　　　　　　　　　　　प्रातः ७ — ११

१

"गर्जन, निरंतर गर्जन।"

"तुमुल नाद, सिंधु का गंभीर गर्जन।"

जहाँ आज पुरी की बस्ती है उससे कुछ उत्तर हटकर सिंधु को मोड़ पर एक विशाल तटवर्ती वन था। उस वन के जल-लग्न दक्षिण भाग में विक्रांत जलदस्यु शूलपाणि निवास करता था। आंध्र सिमुक सातवाहन इसी समय मौर्यों की दुर्बलता से शक्ति-संचय कर रहा था। परंतु उसके मार्ग में चैत्रों का कलिंग कठिन अवरोध था। अब सिमुक ने एक नई युक्ति निकाली। उसने सामुद्रिक दस्युता संगठित की। उसके दस्युओं के आक्रमण दक्षिण-सागर के पूर्वी छोर पर सर्वत्र होते। उसके सेनानी दस्यु बावेरु और मिस्र आदि के ऋद्ध पोतों पर छापा मारते, उनकी संपत्ति हस्तगत कर लेते। इस अर्जन में आधा भाग सिमुक का होता, आधा विजेता दस्यु-विशेष का।

इस प्रकार की जलदस्युता से सिमुक ने एक दूर के लाभ की आशा की थी। उसने विचारा यदि इसी प्रकार के प्रबल

आक्रमण विदेशी पोतों पर निरंतर होते रहे तो पश्चिमी यवन-राष्ट्र निश्चय कुपित हो उठेंगे और उनके कोप के भाजन होंगे प्राची के मगध और कलिंग। यवन-पोतों पर जलदस्युओं के आक्रमण भी विशेष कर कलिंगतट और गंगासागर के समीप होते। सिमुक सोचता कि इस प्रकार जब यवनों के क्रोधानल में मगध और कलिंग जल मरेंगे, वह स्वयं उठकर विदेशियों को निकाल बाहर करेगा और यदि प्राची के राष्ट्र जीवित भी रहे तो वह शीघ्र अपनी नवीन उठती शक्ति द्वारा उनका ध्वंस कर डालेगा।

यवन-पोतों पर आक्रमण से उपलब्ध संपत्ति श्रीकाकुलं के ऋद्ध प्रासादों में भरने लगी। सुंदर सुदर्शन गौरवर्ण यवन-दास कृष्णा सिमुक की परिचर्या करने लगे और यवनी-दासियाँ चमर झलती हुई जब तब उसकी बाहुओं की शक्ति परखने लगीं। करिकाल के भावी कावेरिपत्तन की नींव कावेरी और सागर के संगम पर, वन के निभृत कोण में धीरे धीरे पड़ने लगी। इस कावेरिपत्तन के दक्षिण से लेकर गंगासागर-संगम तक सारा समुद्र सिमुक की शक्ति को मस्तक नवाता और चैत्रों का तटवर्ती नगर स्वयं कलिंगपत्तन आक्रमणों से सुरक्षित न था।

कलिंगपत्तन से सुदूर उत्तर में पुरी के निकटस्थ तटवर्ती वन में पूव महोदधि से सटा शूलपाणि का आश्रय था। शूलपाणि कलिंगपत्तन से गंगासागर तक के विशाल समुद्र का स्वामी था।

उसके नाम से यवन वणिक् काँपते; उसकी भयंकरता का यवनियाँ स्वप्न देखतीं। जब कभी उसके आक्रमण की आशंका होती, यवन-पोत कलिंगपत्तन में लंगर डाल मासों पड़े रहते, परन्तु कभी कभी अमावस्या की रात्रि में वहाँ भी उनकी रक्षा कठिनता से हो सकती और उन्हें धीरे धीरे यह सन्देह भी हो चला कि संभवतः कलिंग-राज भी इस दस्युता में भाग पाते हैं। शूलपाणि जब इस प्रकार की बातें सुनता मुसकरा पड़ता और अपने आक्रमणों का वेग द्विगुणित कर देता।

शूलपाणि की एक प्रेयसी थी यवनी क्रोटा, जिसका नाम उसने बदलकर उसके रूप के अनुरूप 'फेनका' रख दिया था। फेनका बावेरु के एक पोतस्वामी की कन्या थी जिसे उसने उसके पिता से छीन लिया था। फेनका युवती थी, सुन्दरी, अल्हड़। उसने समुद्रों को पार किया था पिता के पोतों में और विक्रान्त जलदस्युता देखी थी दक्षिण महासागर के वक्ष पर। परन्तु अन्तिम संघर्ष में वह शूलपाणि के शौर्य पर रीझ गई थी। दुर्द्धष साम-रिक यवनों की विशाल नौका पर जब शूलपाणि की हिंस्रिका चढ़ दौड़ी थी और जब स्वयं वह कृष्णकाय दुर्दम्य दस्यु एक कर से क्रोटा को छीन दूसरे से असि-संचालन करने लगा था, क्रोटा स्वयं उसकी शक्ति पर आसक्त हो यवनों के पराभव की कामना करने लगी थी। जब उसके पिता का पोत आहतों को लिये धीरे धीरे सागर के उदर में बैठ चला, उसने केवल एक दुःखभरी साँस ली, फिर अपना मुख उसने दस्युराज के वक्ष में छिपा लिया। शूलपाणि

के घने मोरपंखों ने क्रीटा के पिंगल केशों में अपनी नील-स्वर्णिम आभा डाली।

फेनका शूलपाणि की सखी थी, प्रेयसी ही नहीं। उसमें भी शूलपाणि की भाँति ही एक दुर्दमनीय शक्ति थी। समुद्र की लहरियों से उसका सख्य था। साहस की वह मूर्ति थी। जब से उसका पिता बावेरु के नगरों को छोड़ सामुद्रिक पोतों का स्वामी वणिक् बना तभी से फेनका ने भी सागर की लहरों से बन्धुत्व किया। अब जब से वह शूलपाणि-से शक्तिशाली जलदस्यु की रूपगर्भा प्रणयिनी बनी थी, स्वयं उसके पोतसमूह का संचालन करती, उसके आक्रमणों में योग देती।

धीरे धीरे युग बीत गया। शूलपाणि वृद्ध हो चला, फेनका प्रौढ़ा हो चली। अब फेनका को धीरे धीरे सागर से अरुचि हो चली। उसने शूलपाणि के साथ आक्रमणों में जाना छोड़ दिया। वह चुपचाप सागर के तट पर बैठी उसकी लहरियाँ गिना करती, सिन्धु का शाश्वत गर्जन, अमित कोलाहल सुना करती। सागर के निर्घोष से उसके कान बहरे हो चले। लहरियों को गिनती वह सदा तट पर बैठी रहती, नारिकेलों और पुन्नागों की छाया में।

धीरे धीरे स्वदेश की स्मृति उठी। बावेरु का रेतीला मैदान नेत्रों के सम्मुख रह रहकर नृत्य कर उठता और आँसुओं की झड़ी लग जाती। अब उसके सुपुष्ट पुत्रों का स्पर्श भी उसे सुखी न करता, न शूलपाणि का विलास ही उसमें स्फूर्ति भरता। वह एकान्त का सेवन करती और समुद्र के गर्जन से दूर वन की

एकाकी निर्जनता में भागकर शरण लेती, परन्तु वहाँ जब सागर का कोलाहल कर्णगोचर न होता, नारिकेलों और पुन्नागों की अनन्त पंक्तियों से होकर वायु का तीव्र स्वर उसे विक्षिप्त कर देता। वह वहाँ से भी भागकर फिर समुद्रतट का आश्रय लेती, कानों को मूँदती, खोलती, फिर स्तब्ध, नीरव हो बैठती। बावेरु के विशाल भवन उसकी स्मृति में उठते, निलय होने लगते और नीलसागर फिर उसके भूरे नयनों में तरंगित होने लगता।

× × × ×

वह धीरे धीरे तट पर आ बैठी। नारिकेलासव से उसका अंतर शीतल हो चुका था। शूलपाणि नित्य-नैमित्तिक कार्य पर गया हुआ था। आ बैठी वह तरंगित सागर के सिकता-तट पर। देर तक वह सिन्धु का घनघोर गर्जन सुनती रही। दूर, सुदूर क्षितिज पर आकाश सागर को चूम रहा था। तरंगें बारी बारी उठ उठ तट पर टकरा टकरा टूट रही थीं। निरंतर, एक के बाद दूसरी। दूर एक हल्की लहर उठती, धीरे धीरे वह आगे बढ़ती, प्रत्येक पग में ऊँची उठती, फिर यकायक वह टूट पड़ती, विशाल दुर्ग के भग्न प्राचीर की भाँति। उसकी टूटी लहरियों का बिन्दुक्षेप अनन्त मात्रा में पसरकर विपुल वेग से बढ़ता और तट के ऊपर सिकता-प्रसार पर बिखर जाता। सहसा बालुका-तट के असंख्य जीव अपनी क्षुद्र माँदों में जा दुबकते, फिर फेन के हटते ही जल ऊपर फेंक आ निकलते और लहरों

के आने पर फिर अपने गृह में जा डूबते। लहरों का ताँता न टूटता।

देर तक फेनका सागर की उठती-गिरती लहरों को गिनती रही। धीरे धीरे सामने जलगर्भ से चन्द्रमा निकला, पूर्ण चन्द्र, और उसकी कौमुदी सर्वत्र फैल गई। पूर्णिमा की धौत चन्द्रिका में नीली लहरों के रजत-जलकण चमचम चमकने लगे। फिर वही उनका टूटना और फेन का बिखरना। उनका उठना गिनते गिनते फेनका थक गई। उसने विचारा—क्या इन लहरियों का अन्त नहीं? सनातन से ये लहरें ऐसे ही उठती, टूटती और निलय होती रही हैं; अनन्त काल तक ऐसे ही ये उठती, टूटती और निलय होती रहेंगी। इनका फेन इसी प्रकार सदा तट पर बिखरता रहेगा। प्रात:सूर्य और सांध्य सोम इसी प्रकार सागर के निश्चल वक्ष से सदा प्रसूत होते रहेंगे। और मैं? फेनका की विचार-गति रुक गई। अकस्मात् सामने दूर के उठते प्रभंजन में उसने जैसे एक पोत-श्रेणी की अस्पष्ट श्याम-रेखा सागर की नील-पट्टिका पर मिटते देखी। उसने जाना यह उसके अन्तर का प्रतिबिम्ब था और वह पोत-श्रेणी की अस्पष्ट श्यामरेखा थी उसके पिता की स्मृति। उसके नेत्र भींग चले।

जब उसकी संज्ञा लौटी, उसने सुना सदा का वही गर्जन, सागर का तुमुल नाद, अंबुधि का तांडव।

उसने धीरे धीरे कहा—

"गर्जन, निरंतर गर्जन।"
"तुमुल नाद, सिन्धु का गंभीर गर्जन।"

२

पूर्वसागर के आक्रमणों से मिस्र और बावेरु की बड़ी हानि हुई। उन्होंने भारतीय पश्चिमी सीमा के यवन राजाओं से सहायता की प्रार्थना की। बावेरु स्वयं सीरिया के राजा अन्तिओक महान् के अधीन था। अन्तिओक के वाणिज्य को अधिक क्षति हुई। बाह्लीक का व्यवसाय भी गंगा और यमुना के जल-मार्गों से होकर गंगासागर और वहाँ से सामुद्रिक मार्ग से रोम आदि देशों को जाता था। परन्तु पूर्वसागर की जलदस्युता से सारे उत्तरी भारत और दक्षिणी मध्य एशिया का वाणिज्य सिमुक और उसके दस्युओं के हाथ लगा। अन्तिओक की क्रोधाग्नि भड़क उठी। इसी समय बाह्लीक ने विद्रोह किया था। इस कारण अन्तिओक के हाथ बझ गए थे, परन्तु बावेरु की आय इतनी व्यवसायजन्य थी कि उसे उसके सम्मुख राजनीति छोड़ देनी पड़ी। उसने बाह्लीक युथिदेमो को दे डाला और उसके तथा अन्य यवन राज्यों के साथ सन्धि कर भारत पर आक्रमण करके बावेरु-वाणिज्य को मगध और कलिंग के चंगुल से बचाना चाहा। सारे यवन राज्यों का विश्वास था कि वणिक्-पोत प्राची-राष्ट्र मगध और कलिंग द्वारा ही लूटे जाते

हैं। सिमुक का कौशल काम कर गया, वह स्वयं सुरक्षित बना रहा।

अन्तिओक महान् ने हिन्दुकुश पारकर काबुल के हिन्दू राजा सुभागसेन को हराया। परन्तु आगे बढ़ना कुछ आसान न था। अपनी महत्ता में कालिख लग जाने के भय से अन्तिओक महान् अपनी सेना पीछे छोड़ सीरिया की ओर लौट चला। परन्तु सेनापति अन्द्रोस्थीनि की अध्यक्षता में उसकी सेना बाह्लीक आदि यवन राज्यों की अन्य सेनाओं के साथ मगध की ओर बढ़ी।

शालिशूक मौर्य का अभी अभी देहावसान हुआ था और सोमशर्मा के दुर्बल करों में मौर्यों का राजदंड अस्थिर हिल रहा था। यवनवाहिनी ने मथुरा और साकेत लाँघकर मगध की सीमा में प्रवेश किया। अजातशत्रु का राजगृह अब सोमशर्मा का पाटलिपुत्र था। अब पाटलिपुत्र में न तो सिल्यूकस का विजेता चन्द्रगुप्त था और न उसका पथ-प्रदर्शक चाणक्य। यवनों की सेना का मार्ग कहीं न रुका। सोमशर्मा मौर्य गोरथगिरि की ओर भागा और मगध-साम्राज्य की सेना पहले से ही बौद्ध हो चुकी थी। संघ के प्रचुर प्रभाव ने मगध का शौर्य पानी कर दिया था। साम्राज्य की सेना ने हथियार डाल दिए। केवल मौर्यों के पुरोहित-वंश का नवसेनापति कुछ समय तक यवनों की अपार वाहिनी से लोहा लेता रहा, फिर पराजय अनिवार्य जान बौद्धों को कोसता हुआ वह भी गंगा के पार उतर गया।

मगध की राजधानी कुसुमपुर ने यवनों को स्वीकार किया। परन्तु यवन कुसुमपुर को भोगने नहीं आए थे। वे आए थे उसका ध्वंस करने।

यवनों को प्रतिशोध लेना था बावेरु और मिस्र के वाणिज्य का, उनके यवन-वणिकों की मृत्यु का, अपनी खोई यवनियों के दासत्व का। बावेरु और मिस्र में, सीरिया और बाह्लीक में, पूर्वसागर की जलदस्युता से विधवाओं की संख्या बढ़ गई थी, बच्चे पितृविहीन हो गए थे। यवन पाटलिपुत्र पर टूट पड़े। नगर में हाहाकार मच गया। युवा तलवारों के घाट उतारे जाने लगे, बालक घोड़ों की टापों-तले रौंदे जाने लगे, वृद्ध अग्नि की ज्वाला से चीत्कार कर उठे। सारा नगर अग्नि की लपटों से धाँय धाँय जलने लगा। संघ का विशाल विहार भी अपने त्रिपिटकों के बल अपनी रक्षा न कर सका। कुसुमपुर के नागरिकों के रक्त से गंगा की धारा रक्त-रंजित हो चली।

पाटलिपुत्र की पतिव्रताएँ यवन सैनिकों के विलास का साधन बनीं और मौर्यों के शुद्धांत (अंतःपुर) की सतियों ने दुष्ट-विक्रांत यवनों का आश्रय लिया। नगर के कोने कोने में धन और सौंदर्य की लूट मच गई। राजमार्ग पर वीथिकाओं में शवों का ढेर लग गया। नगर के प्राचीरों के नीचे, छतों के ऊपर विभीषिका का तांडव होने लगा—नागरिकाएँ नग्न, धूसरित होने लगीं। नगर के पंच-पर्वतों के जैन देवों ने लज्जा से अपना मुख छिपा लिया।

यह मौर्यों के भाग्य की विडम्बना थी। अभागा सोमशर्मा गोरथगिरि से फिर न लौटा। उसका अभाग्य फिर फिर यवनों के मस्तक पर तिलक लगा रहा था। यवनों की विलासप्रियता से एक लाभ अवश्य हुआ—कलिंग की यौवनश्री की माँग धुलते धुलते बच रही। दुष्टविक्रांत यवन पाटलिपुत्र के पर्यंकों पर अपना शिलातल भूल गए। न उन्हें आगे जाने की सुध रही, न पीछे फिरने की।

ठीक इसी समय उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत पर विद्रोह के बादल मँडरा रहे थे। यवन सेनापति ने अपने क्रूरकर्मा यवनों को कठिनता से एकत्र किया और विलास से मत्त उन सैनिकों ने कुसुमध्वज की सुंदरियों को अपने आगे कर पंचाल की ओर प्रस्थान किया। भागे नर लौटे।

पाटलिपुत्र की कांति मलिन हो गई थी, उसकी लक्ष्मी मसल गई थी। राजधानी की नागरिकाओं को इने गिने पुरुषों की ओर देखते लज्जा आती। उनके पुरुषों की संख्या नहीं के बराबर हो गई थी। समाज की व्यवस्था फिर से हुई। एक एक पुरुष को छः छः स्त्रियों ने वरा। चारों ओर स्त्री-राज्य का आतंक सा छा गया। बालक बलपूर्वक पति बनाए गए।

कलिंगराज ने तीर्थंकरों को धन्यवाद दिया। सिमुक अपनी नीति की विजय पर हँसा। शूलपाणि का व्यवसाय फिर जगा।

३

शरदागम से आकाश स्वच्छ हो चला था और सागर का जल निर्मल नील। पूर्णिमा की रात्रि में फिर फेनका तट पर बैठी बड़ी देर तक लहरों का उत्थान-पतन देखती रही। अनुकूल मंद वायु के संसर्ग से वेला का उदय-निलय वह निहारती रही। एक एक लहर के साथ समुद्र अनन्त सीपियों का संहार उसके चरणों में वमन कर देता, शंख-निचय उसके सम्मुख बिखेर देता। वह प्रत्येक वेला के साथ उठती, कुछ सीपी कुछ शंख चुनती फिर बैठकर कुछ गुनने लगती। सीपियों पर अनेक अनन्त रंग चढ़े थे, एक का वर्ण दूसरे से सर्वथा भिन्न था। फेनका आश्चर्य से चकित रह जाती। कौन इन रंगों को भरता है? इन रंगों की विविधता का क्या कोई अंत नहीं? वह पूछती।

समुद्र का अविराम गर्जन हो रहा था। नील गगन के नीचे नील सागर तट पर लहरा रहा था। फेनिल लहरियों के सोपान बड़े आकर्षक प्रतीत होते। फेनका का हृदय, उसका प्रौढ़ मानस थिरक उठा, कुछ नवीन हो चला। उसकी बार बार इच्छा होने लगी कि वह वेलानिर्मित इस सोपान-पथ पर खटाखट चढ़ जाय। वेलाएँ पसर पसर उसके चरणों में टकराने लगीं। उनका श्वेत फेन उसके चरणों को धो धो सूखने लगा। सागरतट की बालुका-भूमि जो विविध वन्य जीवों के पदअंकों से अंकित थी प्रत्येक वेला से मिटने लगी। वेला आ-आकर मानों अंचल-

भूमि लीप देती और स्वच्छ तट-भूमि रह रहकर चमक उठती। फेनका इस निसर्ग-क्रीड़ा को देखती और मन ही मन कुछ गुनती रही। कभी उसका मुख गम्भीर हो उठता, कभी सस्मित। फिर धीरे धीरे उसकी भावनाएँ अंतर्मुखी हो चलीं और टकराती वेलाओं के तट पर वह बावेरु की यवनी अपने अंतर में बाह्य जगत् का प्रतिबिम्ब लिए, हृदय-पटल पर जलराशि का उद्वेलन करती अंतर्जगत् में लीन हो गई।

निशीथ की वायु देर तक फेनका के पिंगल केशों से खेलती रही। कभी वह उसके कच-निचय को उठा ताल दे दे थिरकाती, कभी उसके अधोवस्त्र को लहरा लहरा उसके कटि-प्रदेश को विवसन कर देती। जब शूलपाणि की निद्रा अचानक टूटी, उसने अपना अंक सूना पाया। दस्यु का मानव-हृदय तरल था, साधारण प्रणयी के हृदय की भाँति। वह बाहर निकल गया फेनका की खोज में। उसने फेनिल तट पर दृष्टि पसारी। फेनका न दिखाई पड़ी। वह काँप उठा।

कुमुदबंधु की निर्मल कौमुदी अंधकार में समा गई थी। सर्वत्र आकाश में फैलकर बादलों ने उसे ढक लिया था। आकाश की नीलिमा से निसर्ग की श्यामता द्विगुणित हो चुकी थी। प्रभंजन का वेग बढ़ गया था और सागर की उत्ताल तरंगें गगन को चूमती थीं। क्रूरकर्मा दस्यु का हृदय भी एक बार इस काल की विकरालता से काँप गया। उसने सस्वर पुकारा—फेनके!

सागर की टूटती लहरों ने अट्टहास कर उत्तर दिया।

दस्यु का मानस बैठ गया। नेत्र फाड़ फाड़ उसने उन आकाशचुम्बी लहरों की ओर भय से उद्विग्न हो देखा और बार बार उसका प्रयास व्यर्थ गया।

उसने फिर पुकारा—फेनके!

उसके स्वर की प्रतिध्वनि सागर के गर्जन में खो गई।

एक बार और दस्युराज ने अनुनय की—फेनके, बोलो अन्यथा तुम्हारा दास पवनमथित इस व्यग्र सागर में कूद पड़ेगा।

दस्यु के स्वर में भय का कम्पन था।

नारिकेलों के झुरमुट में सहसा कुछ श्वेत सा हिला। विद्युत् के क्षणिक प्रकाश में दस्यु ने उसे देखा और दूसरे ही क्षण वह कुंज में जा घुसा। फेनका उछलकर दस्यु की शिराव्यंजित बलिष्ठ भुजाओं में भर गई। दस्यु ने उसके परिहास का उत्तर उसे अपने वक्ष से कुचलकर दिया।

अनेक रत्नों से भरे विलासभवन को छोड़ विक्रांत दस्यु ने इस भयंकर रात्रि में नारिकेलों की भूमि में कामरचना की। निसर्ग की नग्न कोख पर नग्न मानव नाचा। उधर नग्न आकाश के नीचे नग्न जलनिधि नग्न पवन के सहारे नग्न रजनी की श्यामता में करवटें बदल रहा था, इधर नग्न दस्यु नग्न यवनी को झकझोर झकझोर अपनी लम्बी भुजाओं पर उछाल रहा था।

× × × ×

प्रात:काल फेनका नित्य से कुछ देर कर उठी। उसने देखा दस्यु-परिवार हिंस्रिकाओं को साज रहा है। दूसरे अनुचर दस्यु भी आज विशेष प्रकार के आयुधों से नौकाएँ भर रहे थे।

फेनका अपने वस्त्र सम्हालती नारिकेल-कुंज से दौड़ती तट पर आ खड़ी हुई।

उसने शूलपाणि से पूछा—यह कैसा आयोजन है? क्या आज भी जाओगे?

शूलपाणि हँसता हुआ बोला—क्यों आज क्या कोई नई बात है? जाता हूँ नित्य के नैमित्तिक पथ पर।

"आज नहीं, शूलपाणि, आज तुम नहीं जा सकते।"

"क्यों? आज क्या है, फेनके? सागर की लहरों ने क्या मुझे कभी रोका है? आज तू इस प्रकार कातर क्यों हो रही है?"

"नहीं, शूलपाणि, आज तुम्हें रुकना होगा। सागर आज ललकार रहा है।" रमणी अड़ गई।

"आज मुझे जाना होगा, फेनके। सागर आज ललकार रहा है।" शूलपाणि ने कुछ गंभीर होकर सागर की ओर देखा।

"मेरा हृदय काँपता है, शूलपाणि। आज मत जाओ। उन गगनचुम्बी लहरों को देखो।" नेत्रों में आँसू भर नारी ने घुटने टेक दिए।

दोनों पुत्र उडुपों पर बैठे लहरों के वेग को पार कर हिंस्रिकाओं तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहे थे।

शूलपाणि फेनका को वक्ष से चिमटाते हुए बोला—फेनके, तुम वीरकन्या, वीरपत्नी हो, उद्विग्न मत हो। इन गगनचुम्बी लहरियों पर ही चढ़कर मेरी हिंस्रिकाएँ नाचेंगी। आज अंध्रराज सिमुक सातवाहन का विशेष संवाद आया है—स्वर्ण और रजत, ताम्र और कांस निर्मित भांड, सुन्दर स्फटिक-दीप, यवन मदिरा, द्राक्षासव, पारस के अजिन-रत्न, सुन्दर यवन दास-दासी यवनों के पोतों में भरे चले आ रहे हैं। फेनके, तुम्हारी सुन्दर परिचारिकाओं की संख्या बढ़ जायगी। स्वर्ण-रजत से समृद्धि द्विगुणित हो उठेगी। मदिरा से मानस उन्मत्त होगा।

फेनका को चूम दस्यु समीप के उडुप पर कूदकर चढ़ गया और लगा लहरियों से संघर्ष करने। लहरें उसे उठा उठाकर तट की ओर फेंक देतीं और वह द्विगुणित उत्साह से उनके पार जाने का प्रयत्न करता।

यवनी रोते रोते देर तक चिल्लाती रही—न जाओ! न जाओ!

दस्यु लहरों के उस पार हिंस्रिकाओं में जा बैठा। चल पड़ीं हिंस्रिकाएँ मनुष्य और प्रकृति से लड़ने। फेनका उनका दूर क्षितिज पर विलीन होना देखती रही।

× × × ×

अपराह्न हो चला। आकाश का रंग मेघों के संघट्ट से श्याम बना रहा। लहरियों का उत्थान-पतन पूर्ववत् वेग से होता रहा। फेनका तट पर बैठी लहरों को गिनती रही। आज उसने भोजन छुआ तक नहीं। परिचारिकाओं को उसने दुरदुरा दिया। उसके

हृदय में अनेक भय रूप धारण कर उठते और वह काँप उठती। अनेक प्रकार के अपशकुन होते। वह चुपचाप लहरियों को देखती रही, फिर बोली—वही गर्जन, वही सिन्धु का तुमुल नाद। बन्द कर, अंबुधि, अपना यह कर्णकटु कोलाहल।

सिन्धु गरजता रहा, फेनका के हृदय को भय से भरता रहा। फेनका ग्रीक और बावेरु, असुर और आर्य देवताओं को बारी बारी मनाती रही, परन्तु हिंस्रिकाएँ दृष्टिगोचर न हुईं।

वह यकायक उठी और आश्रय की ओर दौड़ गई। उसने अपने केशों को चौड़े स्वर्ण-पट्ट से बाँधा, फिर ऊपर एक ढीला अंशुक डाल कच्छ पहना। फिर युगल दस्यु-रक्षकों की ओर संकेत कर वह समीप के उडुप पर कूद पड़ी। उसे रोकने का न तो परिचारिकाओं को साहस हुआ न दस्युओं को ही। दूसरे उडुपों पर दस्युओं ने उसका अनुसरण किया।

लहरों ने उसे ललकारा। वह उन पर चढ़ दौड़ी। कभी जल में तैरती, कभी उडुप पर चढ़ती। वह लहरों की पहुँच से बाहर उस पार समुद्र में पहुँच गई जहाँ अकेली हिंस्रिका धीरे धीरे हवा के सहारे हिल रही थी। दोनों दस्युओं ने डाँड़ सम्हाला और फेनका कर्ण पर जा बैठी। उठती लहरों के ऊपर काँपती लहराती हिंस्रिका चल पड़ी सागर के अनन्त छोर की ओर जिधर शूलपाणि की हिंस्रिकाओं की रेखा प्रातःकाल विलीन हो गई थी।

× × × ×

दक्षिण-पश्चिम के कोण पर सुदूर एक काला धब्बा सा दिखाई दिया। फेनका ने उत्साह-पूर्वक दस्युओं को ललकारा। उसकी हिंस्रिका का वेग बढ़ गया। परन्तु लहरों की चपेट से वह कभी आगे कभी पीछे हटने लगी। एक लहर उसे उठाकर आगे फेंक देती, फिर दूसरी पीछे पटक देती। फेनका मृत्यु से संघर्ष करती बढ़ी चली जा रही थी।

काला धब्बा धीरे धीरे बढ़ने लगा। वह बढ़कर श्याम रेखा-सा दिखाई देने लगा।

फेनका की नौका करवटें लेती बढ़ चली श्याम रेखा की ओर। श्याम रेखा एक से दो हो गई। हिलती हुई दो पोत-पंक्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं। कुछ ही क्षणों में बादल छँट चले, परंतु संध्या भी धीरे धीरे दृश्य को धुँधला करने लगी। फिर भी उस गोधूलि में दूर से फेनका ने दोनों पंक्तियों को टूटते और बिखरते स्पष्ट देखा। यवनों के ऊँचे पोत अनेक पालों से सुसज्जित थे, परंतु दस्युओं के आक्रमण से वे छिन्नभिन्न हो रहे थे। अपनी विशालता के कारण उनका शीघ्रता से चलना कठिन था, परंतु तीव्र गतिवाली हिंस्रिकाएँ वेग से घूम घूम उनके पृष्ठभाग पर आक्रमण करतीं। लहरें उन्हें उठा उठाकर दूर फेंक देतीं, परंतु दूसरे ही क्षण पोतों के कर्ण पर वे फिर जा चढ़तीं।

धीरे धीरे पोत तितर-बितर होने लगे। उनकी संख्या घटने लगी। उनके कितने ही टूटे लौह और काष्ठखंड फेनका की

हिंस्त्रिका से आ टकराए। अब वह आनन्द से थिरक रही थी। सोचती थी किस प्रकार उड़कर वह शूलपाणि के पार्श्व में जा खड़ी हो।

इसी समय शूलपाणि लड़ता हुआ अनेक दस्युओं के साथ विशिष्ट पोत के ऊपर चढ़ गया। अब केवल यही पोत बच रहा था और इसके सैनिक अंतिम संघर्ष कर रहे थे।

फेनका अत्यंत निकट पहुँच चुकी थी। इसी समय उसने देखा अपने अंतिम क्षणों में पोतस्वामी ने तानकर भाला मारा जो शूलपाणि का शिरस्त्राण भेदता हुआ कान के समीप से निकल गया। घाव सांघातिक न था, परंतु रक्त की धारा बह चली और फेनका उद्विग्न हो उठी। उसे यह भी भान न रहा कि वह समुद्र में है। कर्ण से वह पोत पर कूदने के लिये उछली। मृत्यु के मुख में वह कूदी, परंतु इसी समय उसके कनिष्ठ पुत्र की हिंस्त्रिकाको लहरों ने उसकी हिंस्त्रिका से टकरा दिया और वह गिरी पुत्र के अंक में। ठीक तभी शूलपाणि ने तौलकर जो भाला मारा वह पोतस्वामी के वक्ष पर भरपूर बैठा। वह तत्क्षण लोट गया।

दस्यु पोत पर चढ़ दौड़े। फेनका भी मुसकराते हुए शूलपाणि के पार्श्व में जा खड़ी हुई। पोत अब उसका था। वणिक् और दूसरे दास-दासी अब उसके थे। स्वर्ण और रजत, ताम्र और कांस-निर्मित भांड, सुंदर स्फटिक-दीप, यवन मदिरा, द्राक्षासव, पारस के अजिन-रत्न सब अपने थे।

बादल छँट गए थे। आकाश निर्मल हो चला था और चंद्रमा अपनी वंचक हँसी हँस रहा था। परंतु अभी तक प्रभंजन का वेग न थमा था। आकाश के मेघ झंझावात बुहार चुका था, अब वह सागर पर गम्भीर गर्जन करने लगा। सागर की लहरें फिर वेग से उठने गिरने लगीं, झंझावात के गर्जन की प्रतिध्वनि करने लगीं।

दस्युराज शूलपाणि अपने वैभव को देखने लगा। उसके समीप ही उसके अनेक सैनिक खड़े थे। उसके पार्श्व में खड़ी फेनका लहरों के उद्वेलन से उठते-गिरते पोत के कारण उससे रह रहकर टकरा जाती। उसके पुत्र भी अपने लाभ की अटकल लगा रहे थे, दास-दासियों के सौन्दर्य को रह रहकर घूर रहे थे। फेनका भी अपने ऐश्वर्य से प्रसन्न थी।

कर्ण की ओर पड़ा एक आहत यवन सैनिक मोटे मस्तूल के पीछे पालों की रज्जुओं पर लगातार छुरा चला रहा था। यकायक प्रबल झटके और वेग के साथ पोत के पचासों पाल एक ओर से कटकर वायु में लहरा उठे। उनके वेग से पवन का वेग यकायक बढ़ गया और दस्युओं के सम्हलते न सम्हलते वह विशाल पोत उलटकर जलराशि के गर्भ में बैठ गया, दस्यु-परिवार को लिए—उनके वैभव के साथ। स्वर्ण और रजत, ताम्र और कांसनिर्मित भांड, सुन्दर स्फटिक-दीप, यवन मदिरा, द्राक्षासव, पारस के अजिन-रत्न, सुघड़ यवन दास-दासियों का वह संसार उठती लहरों के

क्षणिक बुद्बुदों की भाँति सहसा विलीन हो गया। सिन्धु पूर्ववत् घहराने लगा।

सागर की उत्ताल तरंगों ने अट्टहास किया, फिर उसकी सनातन दिनचर्या चल पड़ी—

"गर्जन, निरंतर गर्जन।"

"तुमुल नाद, सिंधु का गंभीर गर्जन।"

क्रांति
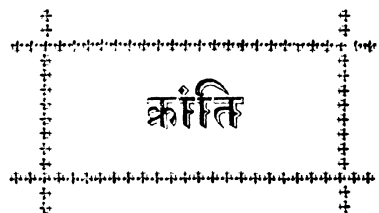
[प्रस्तुत कहानी में वर्णित घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। पुष्यमित्र बृहद्रथ का सेनापति था। बृहद्रथ मौर्यों का अन्तिम वंशधर था। उससे सेना और प्रजा ऊब उठी थी। किस प्रकार सेनापति ने उसे सेना के सम्मुख मारा इसका उल्लेख संस्कृत-साहित्य में कई स्थलों पर मिलता है। अन्तिम उल्लेख 'हर्षचरित' में बाणभट्ट (सातवीं शती) का है—'प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।' इस उल्लेख में पुष्यमित्र के प्रति 'अनार्य' शब्द का व्यवहार कदाचित् बौद्धराज हर्ष के प्रसादार्थ हुआ है। पुराण इस संबंध में केवल इतना ही लिखते हैं—'सेनापति पुष्यमित्र बृहद्रथ को मारकर ३६ वर्ष तक राज्य करेगा।' महर्षि पतंजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे, कदाचित् पुरोहित भी, जैसा उनके महाभाष्य के उदाहरण से विदित होता है—'इह पुष्यमित्रं याजयामः'। यवनों के आक्रमणों का संकेत भी महर्षि ने अपने महाभाष्य में किया है—'अरुणत् यवनः माध्यमिकाम्। अरुणत् यवनः साकेतम्'। आक्रमणकारी यवन को मैंने मिलिंद माना है। वह बौद्ध था यह 'मिलिन्दपन्ह' से सिद्ध है। इस समय भारतवर्ष में ब्राह्मणों का प्रभुत्व हो चला था। शुंग, चैत्र और आंध्रसातवाहन तीनों ब्राह्मण-कुल थे। खारवेल और पुष्यमित्र की समकालीनता संदिग्ध है। समय—द्वितीय शती ई० पू०, लगभग १८५ से १५० ई० पू० तक।]

१६–१०–४० प्रातः ५—१०

१

अमावस्या की रात्रि में अनंत दीपशिखाओं के प्रकाश में पाटलिपुत्र के राजप्रासाद के सर्वोपरि पृष्ठतल पर बैठा मगध-सम्राट् बृहद्रथ मौर्य नर्तकियों को बिदा कर रहा था। आज उसका हृदय उद्विग्न था। आज नर्तकियों की नाट्यमुद्राएँ उसे आकर्षित न करती थीं, न उनकी भावभंगियाँ ही उस पर अपना जादू डालती थीं। विलासी आज घबराया हुआ था। उसका चित्त अस्थिर हो रहा था, संज्ञा विलुप्तप्राय हो रही थी। कारण अनजाना था। एक अद्भुत त्रास उसके मानस को भर रहा था। वह अनुपम गायक, कला का वह अद्वितीय पारखी, बौद्ध दर्शन का वह विचक्षण दर्शक आज अपने ही भावों के स्रोत में डूब उतरा रहा था। रह रहकर जैसे उसके हृदय को कोई मथ रहा था, क्षुरप्र से धीरे धीरे छील रहा था।

मगधराज हिरण्य के भद्रपीठ से उठा और पर्यंक की पृष्ठ-पट्टिका से पीठ लगा विचारने लगा—"मैं प्रतिज्ञादुर्बल हूँ। अपने विलास में रत प्रजा की सुविधाओं का मैंने कभी विचार

नहीं किया। सेना को वर्षों से वेतन न मिला। पितामह सोमशर्मा मौर्य के समय जो यवन-आक्रमण हुआ उसका ताँता अब तक न टूटा और प्रजा आततायियों के अत्याचार से नष्टभ्रष्ट हो रही है। ईतियाँ दुर्भिक्ष द्वारा उसका शोषण कर रही हैं—और मैं? मैं..."

बृहद्रथ निष्प्रभ हो रहा। उसका कलेजा काँप उठा। कर्तव्य की स्मृति उस पर चोटें कर रही थी और वह गहरी साँस ले ले करवटें बदल रहा था। विलास की कामना अनेक अनुरंजक दृश्यों से उसे अपनी ओर खींच रही थी और कर्तव्य का कठोर मार्ग उसे उलाहने दे रहा था। उपालम्भ की ओर उसने पीठ कर ली और लगा वह अपने व्यसनानुभूति के प्रवाह में बहने।

न, वह टस से मस न होगा—उसने सोचा। प्रजा तो दरिद्र का उदर है, कभी भरता नहीं। उसे जितना दो उसकी याचना उतनी ही बढ़ती जायगी।

हृदय के एक निभृत कोण से कर्तव्य ने ललकारा—प्रजा को कब क्या दिया तुमने? उसके स्वत्व तुम्हारी सभा के सभ्य कुचल रहे हैं, उसकी आराधना पर दृप्त श्रमण हँसता है, उसके देवताओं पर थूकता है। तू प्रतिज्ञादुर्बल है, सावधान!

"मैं प्रतिज्ञादुर्बल हूँ"—बृहद्रथ ने स्वयं अपने को धिक्कारा परंतु व्यसन की कमनीय धारा ने उसके चौंकते विचारों को दूर बहा दिया। आलोक-शिखाएँ उसने दूर करा दीं।

भद्रपीठ की दक्षिण पट्टिका पर बृहद्रथ का राजमुकुट रखा था। तारों के क्षीण आलोक में उसके रत्न झिलमिल झिलमिल करते थे। ऊपर की कलँगी से लगी चूड़ामणि दीपशिखा सी बलती थी। उसका प्रकाश रह रहकर दूर तक अंधकार की छाती विदीर्ण कर देता।

अन्यमनस्क सम्राट् आकाश में एकटक उदय और अस्त होते नक्षत्रों को देख रहा था। यकायक राज्यप्रासाद के सभागृहवाले स्वर्णकलश पर कुछ 'फड़फड़' ध्वनि हुई। सम्राट् की दृष्टि उधर खिंच गई। उसने देखा चंचु में रक्तस्रावी मांसपिंड लिए एक विशाल गृद्ध उस पर आ बैठा। स्वर्ण-कलश का कँगूरा गृद्ध के विपुल पंखपुंज से ढक गया।

भय की एक लहर सम्राट् के अंतर में उठी। उसने पुकारा—मधुरिके!

क्षण भर में सुंदरी यवनी हाथ जोड़े आ उपस्थित हुई।

भयातुर—क्रुद्ध बृहद्रथ ने धीरे से कहा—मधुरिके, धनुष ले आ, बृहत्प्रकाश भी।

मस्तक झुका यवनी ने कहा—देव की जैसी आज्ञा।

पल भर में यवनी धनुष-बाण लिए लौटी। प्रकाश दूर तक फैल गया।

बृहद्रथ ने गृद्ध पर शर संधाना, पर क्षुरप्र बाण के छूटते न छूटते पक्षिराज उड़ गया। जब तक सम्राट् ने दूसरा बाण चढ़ाया, गृद्ध नीचे के प्रमदवन के प्राचीरों की ओट हो गया।

भावों की प्रगति मगधराज के वक्ष में पसरने लगी। भय की मात्रा इस अपशकुन से द्विगुणित हो उठी। उसके करों से गिरते धनुष को यवनी ने धीरे से ले लिया।

इसी समय गृद्ध लौटा और अचानक राजमुकुट की कलँगी के साथ हेमसूत्र का चूड़ामणि ले उड़ा। राजमुकुट पक्षिराज के प्रबल प्रहार से प्रासाद के पृष्ठतल पर लुढ़क गया।

अशुभ के ऊपर अशुभ। राजा काँप उठा। यवनी भी संत्रस्त सी हो उठी। राजा धनुष-बाण लिए पृष्ठतल पर दौड़ा। पक्षिराज अब भी समीप ही आकाश में चक्कर काट रहा था। सम्राट् ने आकर्ण ज्या खींचकर बाण मारा। लक्ष्य खाली गया। संत्रस्त कुपित बृहद्रथ के कर काँप रहे थे। उसने फिर बाण मारा। लक्ष्य फिर चूका। सम्राट् ने धनुष नीचे डाल दिया और ललाट के स्वेदबिन्दु पोंछता वह पर्यंक पर जा बैठा।

पक्षिराज अब भी प्रकोष्ठ के कलश का चक्कर काट रहा था। यवनी ने चित्त संयत कर जो बाण मारा, उससे उसके कुछ पंख झड़ गए। गृद्ध धीरे धीरे दूर नगर की ओर ऊँचा उड़ चला।

सम्राट् ने गंभीर निःश्वास ले कहा—मधुरिके, पौर से कह, वह अपने नागरकों द्वारा पक्षी का पीछा करे और संध्या समय जब वह अपने नीड़ में प्रवेश करे उसका वध कर वह चूड़ामणि हस्तगत कर ले।

यवनी ने मस्तक झुकाकर प्रस्थान किया।

बृहद्रथ ने उसे रोकते हुए फिर कहा—मधुरिके, तनिक महा-मात्य को मेरे समीप आने को कह ।

सम्राट् के शब्दों में उद्वेग का कम्पन था ।

यवनी धीरे धीरे मुसकराती पृष्ठतल से नीचे उतर गई ।

× × × ×

जब महामात्य ने प्रवेश किया, उसने बृहद्रथ को अप्रतिभ पाया। अभिवादन कर आदेश की प्रतीक्षा में महामात्य एक ओर खड़ा हो गया।

सम्राट् ने धीरे धीरे मस्तक उठाया। महामात्य ने फिर अभिवादन किया। बृहद्रथ के हृदय में आचार-व्यवहार की शक्ति न रह गई थी। उसने महामात्य के अभिवादन का उत्तर न दिया। महामात्य स्वभाव से ही संयत था। उसने अपने मुख की चेष्टा पूर्ववत् गंभीर बना रखी।

कुछ क्षणों के बाद बृहद्रथ बोला—महामात्य, अपशकुन हो रहे हैं। जान पड़ता है, मगध का अपकार होगा।

महामात्य का हृत्कमल खिल उठा। अपने ही शब्दों के श्रवण-लोभ से वह युक्तिपूर्वक बोला—देव, मगध का अपकार सम्राट् का अपकार है। परन्तु कर्तव्यशील मगधेश्वर को अप-कार की क्या चिन्ता ?

महामात्य का व्यंग्य बाण की भाँति बृहद्रथ के मर्म पर लगा। परंतु अपने को संयत कर उसने पूछा—क्या प्रजा संत्रस्त है, महामात्य ?

महामात्य ने मन ही मन कहा—प्रजा संत्रस्त नहीं, राजन्, यह तुम्हारे पापों को विडम्बना है।

उसने प्रकट कहा—मौर्य सम्राट् से यशस्वी गोप्ता पाकर प्रजा को त्रास कैसा, देव ?

महामंत्री का व्यंग्यबाण पूर्वस्थल पर फिर बैठा, भरपूर। परंतु आज बृहद्रथ संयत था, भय से अवरुद्ध। मंत्र से वृत्तबद्ध भुजंग गुंजलक मार बैठा, उसने फुँफकार तक न मारी। महामंत्री स्वामी की इस अनजानी शक्ति से विस्मित हो उठा। यवनी पृष्ठतल के सोपानमार्ग पर खड़ी धीरे धीरे मुसकरा रही थी।

विष का घूँट पी सम्राट् ने कहा—महामात्य !

महामात्य बोला—देव !

"देखो, मेरा चित्त आज कुछ अस्थिर है। संभव है शयनकक्ष से नित्यवत् प्रातः न निकल सकूँ। इस हेतु सेना-पति से कहकर कल का सैन्य-प्रदर्शन स्थगित कर दो।" सम्राट् ने धीरे धीरे कहा।

महामात्य का मुखमंडल जो व्यंग्यों के प्रभाव से विद्रूप हो गया था, फिर गंभीर हो उठा। उसकी भृकुटियों में बल पड़ गये। सोपानमार्ग पर खड़ी यवनी की मुखाकृति पर महामात्य की आकारचेष्टाओं का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था।

महामात्य ने दृढ़तापूर्वक कहा—देव, यह कैसे हो सकता है ? सारा संभार हो चुका है। केवल पाटलिपुत्र की सेना

होती तो कोई बात न थी। प्रत्यंतों से भी सेनाएँ राजधानी में लौट आई हैं और अंतपाल यहाँ दीर्घकाल तक रोके नहीं जा सकते। यवन फिर पश्चिमी सीमा पर मँडरा रहे हैं और उनकी नृशंसता पाटलिपुत्र के निवासियों को अभी भूली नहीं है। सामान्य यवनसेना भी नागरिकों को आतंक से भर देगी।

बृहद्रथ ने महामात्य के वक्तव्य में विशेष तथ्य पाया। उसने विचारा—सत्य ही अंतपालों को उनकी सेनाओं के साथ मूल में दीर्घकाल तक रखना विपत्ति को निमंत्रण देना है। यवनों की स्मृति से सम्राट् काँप उठा।

फिर उसने दृढ़तापूर्वक महामात्य से कहा—महामात्य, कार्यक्रम में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। मैं कल सैन्यनिरीक्षण करूँगा। जाओ।

महामात्य ने उसी गंभीर आकृति से कहा—जैसी आज्ञा, देव! इतनी दूर से आई सेना वर्षों से अवैतनिक रहने पर भी प्रभु का आश्वासन सुन सचेष्ट हो उठेगी।

बृहद्रथ को महामात्य का वक्तव्य कदाचित् कुछ अच्छा न लगा। उसने कहा—जाओ, महामात्य, जाओ।

जाते हुए महामात्य ने अपने भीतर उठते भावों की बहती धारा यवनी के नेत्रों में देखी। उसने मुसकरा दिया।

इसी समय सोपानमार्ग पर बृहद्रथ का स्वर सुन पड़ा—मधुरिके?

यवनी पृष्ठतल पर दौड़ गई।

"मधुरिके, धृष्टद्युम्न से मेरा प्रसाद कह।" सम्राट् ने आदेश किया।

यवनी माथा झुका विद्युत् की भाँति पृष्ठतल से नीचे उतर गई।

सम्राट् ने अंत में अपनी शरीररक्षक सेना का सहारा लेना ही उचित समझा। परंतु महामात्य के वक्तव्य का वह अनोखा वाक्य—"सारा संभार हो चुका है—" रह रहकर उसे त्रस्त करने लगा। व्याकुल बृहद्रथ कभी पृष्ठतल पर टह-लता, कभी पर्यंक पर जा लेटता, कभी भद्रपीठ का आश्रय लेता। परंतु वारंवार जैसे उसकी स्मृति के कोलाहल से सुन पड़ता—"सारा संभार हो चुका है।"

यकायक प्रतीहारी का स्वर सुन पड़ा—शरीररक्षक सेना के अध्यक्ष 'सिंहविक्रम' धृष्टद्युम्न।

सम्राट् ने कुछ उद्वेग, कुछ दृढ़ता से पूछा—धृष्टद्युम्न, तुम्हारी शरीररक्षक सेना प्रस्तुत है?

धृष्टद्युम्न ने अभिवादन कर कहा—देव, शरीररक्षक सेना आदेश के अर्थ सदा प्रस्तुत रहती है।

बृहद्रथ ने महामात्य के वक्तव्य का सारगर्भित वाक्य धृष्टद्युम्न के वक्तव्य से जोड़ा। वह काँप उठा। उसकी मुखश्री मलिन पड़ गई। परन्तु शीघ्र अपनी दुर्बलता छिपाता हुआ शब्दों में शक्ति भर वह बोला—धृष्टद्युम्न, सेना सन्नद्ध

रखो। कल प्रात: मुझे सैन्य-निरीक्षण में जाना है, मुझे उसकी आवश्यकता होगी।

शरीररक्षक सेना का अध्यक्ष मस्तक झुकाकर पृष्ठतल से उतर चला। सोपानमार्ग से उतरते हुए उसकी पीठ को धीरे धीरे यवनी ने थपथपाया।

कुछ देर तक सम्राट् महामात्य और धृष्टद्युम्न के वक्तव्यों की अद्भुत समानता पर विचार करता रहा। फिर वैतालिक के स्वर से उसकी विचारनिद्रा टूटी। वैतालिक ने पुकारा—रात्रि का दूसरा पहर हो चला।

अंत:पुर के मार्ग में नौबत बज उठी। सम्राट् के हृदय में फिर से बल भरने लगा। वाद्य ने उसके रोम रोम में स्फूर्ति भर दी। अपनी दुर्बलता पर वह आप ही झुँझला उठा। फिर मुसकराता हुआ उसने पुकारा—मधुरिके।

यवनी शीघ्र सम्राट् के सम्मुख आ खड़ी हुई। उसका सस्मित मुख देख वह मन ही मन मुसकराई।

बृहद्रथ बोला—मधुरिके, मधुपात्र भर दे।

यवनी ने स्वर्णकलश से स्फटिक का मधुपात्र भर दिया। सम्राट् ने शीघ्रता से कई मधुपात्र रिक्त कर दिये। फिर जब वारुणी ने अपने रंग में उसका अंतर बाहर सब रंजित कर दिया, बृहद्रथ अपने पूर्व भय का स्मरण कर अट्टहास कर उठा। यवनी उसके भावपरिवर्तन से कुछ संत्रस्त हो उठी।

सम्राट् फिर बोला—मधुरिके, शयनकक्ष का मार्ग बता।

यवनी शीघ्रता से सम्राट् के समीप पहुँचकर बोली—इधर, इधर, देव।

सम्राट् जब अपनी देह का कुछ भार यवनी की चमकती ग्रीवा पर डाल सोपानमार्ग पर लड़खड़ाता हुआ चला, यवनी को उसका कर कुछ गरम प्रतीत हुआ। झुके सम्राट् का गरम उच्छ्वास यवनी के शीतल कपोल पर कुछ अरुण राग भरने लगा।

× × × ×

आज की निशा बड़ी भयावनी थी। पाटलिपुत्र का विशाल विपणिमार्ग सदा की भाँति दूसरे पहर ही नीरव हो गया। निशीथ हो चला था। आज संध्या से ही विस्तृत नगर में एक अनोखे भय का संचार हो गया था। नागरिकों के भय का कारण क्या था, सो स्वयं नागरिक भी न जानते थे। केवल प्रत्यंत से आए सैनिकों के दल के दल शौंडीगृह में, मार्ग पर, अपने भल्लों पर झुके अनजाने सुख का स्वप्न देख रहे थे।

निशीथ के घंटे जब सेना के स्कंधावारों में बजे, कुछ अद्भुत चहल-पहल आरंभ हुई। दल के दल सेनानायक किसी गुप्त विषय पर विशेष शिविरों में परामर्श करने लगे। शिविरों के द्वार निवृत थे और उन पर विशिष्ट प्रहरी सन्नद्ध। इन शिविरों में केवल उन्हीं का प्रवेश हो सकता था, जिनके पास रक्तवर्ण की एक शलाका होती। प्रहरी आगन्तुक

की शलाका देख उसे शिविर का द्वार खोल भीतर कर लेते, फिर अपने भल्लों को बलपूर्वक पकड़ धीरे धीरे टहलने लगते। जो एक अद्भुत प्रवाह भीतर ही भीतर चल रहा था उसके विवरण का लोगों को ज्ञान न था, फिर भी सैनिकों को इतना विदित था कि प्रातः कोई असाधारण घटना घटेगी जिसमें उनका प्रचुर हाथ होगा और जिसका संबंध उनके कल्याण से होगा। बस वे इतने से संतुष्ट थे। उनके लिए इतना पर्याप्त था। अब उनका वेतन वर्षों के बाद मिल जाएगा। उन्हें इस बात की चिंता न थी कि उसे कौन देगा। साधारण सेनानायक भी कार्यक्रम को पूर्णतया न जानते थे और विशिष्ट सेनानियों की मूक गंभीर मुद्रा उन्हें कुछ पूछने से वर्जित करती थी। उनका सैनिक विनय किसी प्रकार की जिज्ञासा और उत्सुकता प्रकट करने में बाधा डालता था। केवल दो शब्द जहाँ तहाँ सुन पड़ते थे—'प्रतिज्ञादुर्बल सम्राट्' और 'कर्तव्यशील सेनापति'।

× × × ×

रात्रि का तीसरा पहर था। अंधकार पाटलिपुत्र को निगल रहा था। सहसा मगध के विशाल स्कंधावार के महासेनापति पुष्यमित्र के शिविर का द्वार खुला और प्रहरियों ने मस्तक झुका लिए। निभृत द्वार से मगध के वयोवृद्ध महामात्य, सेनापति, शरीररक्षक सेना के अध्यक्ष और प्रत्यंतों के अंतपाल निकले। अंतपाल अपने शिविरों में चले गए,

रक्षक सेना के अध्यक्ष राजप्रासाद में गुप्तद्वार से प्रविष्ट हुए और महामात्य ने अपने हर्म्य में प्रवेश किया। सेनापति भी अंधकार में विलीन हो गए।

× × × ×

पाटलिपुत्र के बाहर गंगा और शोण के संगम पर महर्षि पतंजलि का तपोवन था। ब्राह्मणधर्म के एकमात्र स्तंभ योगिराज पतंजलि की अवहेलना स्वयं मौर्य-सम्राट् बौद्ध बृहद्रथ नहीं कर सकता था। यदि किसी के समक्ष उसका मस्तक भय से झुकता था तो केवल महर्षि के सामने। पाटलिपुत्र के बौद्ध विहार के महास्थविर स्वयं पतंजलि के सम्मुख माथा टेकते थे। और वे निर्भीक तपस्वी योगिराज समाधि में शक्ति का संचय कर उससे मगध के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग को वीर्यवान् करते थे।

सारा पाटलिपुत्र सोया पड़ा था। महर्षि के तपोवन में भी शान्ति विराज रही थी। सारे ब्रह्मचारी और उनके आचार्य-उपाध्याय निद्रा में निमग्न थे।

महर्षि व्याघ्रचर्म पर शांत बैठे थे। एक प्रौढ़ उनके चरणों में माथा टेके पड़ा था।

महर्षि ने धीरे धीरे आशीर्वाद दिया—जाओ, नंद के प्रतिनिधि से प्रजा को मुक्त करो। चंद्रगुप्त की कीर्ति का पुनर्विस्तार करो।

प्रौढ़ उठा और धीरे धीरे अंधकार में विलीन हो गया।

ब्राह्म मुहूर्त का समय हो चला था। तपोवन के ब्रह्मचारी गा उठे। मगध के स्कंधावार में दुंदुभि, शंख और तूर्य बज उठे।

२

पाटलि दुर्ग के सुविस्तृत मैदान में अटूट क्रम से फैले स्कंधावारों के सामने मगध-साम्राज्य की विपुल वाहिनी सैन्य पद्धति से सज रही थी। प्रातराकाश की लाली फूटने के पूर्व से ही सैन्य का यातायात प्रारंभ हो गया था। अनेक गुल्म-नायक, नायक, अधिनायक, चमूपति, बलाधिप, पदाति-सेनापति, हयाध्यक्ष, रथाध्यक्ष, गजाध्यक्ष, नावाध्यक्ष अपनी अपनी सेना का परिचालन कर रहे थे। पदातियों के पदसंचालन, अश्वसेना की नियमित गति, हस्तिसैन्य के भारी शब्द और रथों की गड़गड़ाहट से जो ध्वनि उठती, उससे दिगंत व्याप्त हो जाता। बीच बीच में अश्वों की हिनहिनाहट और गजों की चिंग्घाड़ से जो गंभीर शब्द होता उससे भय का संचार होता। सेना की अविराम गति से गजों के पदों और अश्वों की टापों से खुदकर धूल निकलती और पूर्व-दिशा की लाली को स्वनिर्मित मेघों से ढक लेती। रह रहकर रणभेरी बज उठती।

दूर राजप्रासाद के एकांत छोर पर आलोकशब्दों की प्रतिध्वनि गूँज उठी। सम्राट् के आगमन की सूचना में

सेना का पूर्वीय तूर्य-पक्ष सहसा बज उठा। सारी सेना निश्चल हो गई। धीरे धीरे पूर्व तोरण से सम्राट् का विशाल गज निकला। मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ उत्तुंग गज पर स्वर्ण के रत्नजटित हौदे में चमकते वस्त्रों से सुसज्जित बैठा था। उसके दोनों पार्श्व में दो सुंदर यवनियाँ धनुष पर बाण चढ़ाए वीरासन से सतर्क बैठी थीं। उनकी कटि से कटारें लटक रही थीं। शरीररक्षक सेना सम्राट् के गज के चारों ओर द्रुतगामी तुरंगों पर आरूढ़ भल्ल, असि और धनुष-बाण से सजी बढ़ती आ रही थी। उनका अध्यक्ष धृष्टद्युम्न विशाल गज के पार्श्व में कुछ दूरी पर उन्नत मस्तक किए धीरे धीरे बढ़ता आ रहा था। रह रहकर वह अपना तुरग लिए सम्राट् के गज के अत्यंत निकट आ जाता फिर दूर हट जाता। सम्राट् का वक्षवर्म उसके रंजित रत्नजटित वस्त्रों के भीतर से जब तब झलक जाता। हौदे के ऊपर पड़ी उसकी दक्षिण भुजा के लौहवर्म पर शिरस्त्राण से फिसल फिसलकर बालरवि की किरणें पड़तीं और वह दमक उठता। सम्राट् के गज के पीछे क्रमशः महामात्य और युद्धामात्य के गज थे। उनके चतुर्दिक् भी पार्श्वचर रक्षक सेना थी।

धीरे धीरे जब सम्राट् की सवारी प्रासाद के पूव तोरण से निकल खुले मैदान की ओर चली, तब मगध-साम्राज्य का शक्तिशाली सेनापति उसके स्वागत को आगे बढ़ा। मौर्यों के पुरोहित शुंग-परिवार का पिता मनस्वी पुष्यमित्र सेना का

लाड़ला था। वह एक एक सैनिक का जीवन था। सैनिक उसके नाम की सौगन्ध खाते, उसके नाम पर एक एक को चुनौती देते—प्रणय में, कलह में। वह भी एक एक सैनिक को अपना सगा जानता। न्याय के क्षेत्र में उसने अग्निमित्र और साधारण सैनिक में अन्तर न जाना था, न डाला था। सेना का वह प्राण था और वह उसके संकेत पर नाचती। यह उसके स्नेह का ही परिणाम था कि वर्षों से वेतन न मिलने पर भी वह किसी प्रकार संयत थी, विशेष कर जब एक एक सैनिक को बृहद्रथ की स्वार्थपरता और स्वच्छंद विलासिता की बात विदित थी। यदि पुष्यमित्र न रोकता तो प्रत्यंतों की क्रोधाग्नि में बृहद्रथ कब का भस्म हो चुका होता।

सम्राट् के स्वागत में पुष्यमित्र बढ़ा। उच्चैःश्रवा सा उसका तुंग तुरग अत्यंत कठिनता से रुकता था। सेनापति के वर्म की झालर चमचम चमकते तुरग के पृष्ठकवच पर गिर रही थी और उसका उठा भल्ल-फलक अरुण सूर्य की रक्तकिरणों में नेत्रों में चकाचौंध उत्पन्न कर रहा था। उसके उन्नत शिरस्त्राण का निम्न भाग वक्षवर्म से मिल गया था और पार्श्व-लौहपत्तर का दक्षिण छोर कटि से लटकती असि की रत्नजटित स्वर्णमूठ छूता था। रानों के पत्तर वाजिराज के ताम्र-साज से रगड़ जाने के कारण रह रहकर बज उठते थे। वामस्कन्ध के ऊपर पृष्ठदेश से अवलंबित तूणीर मर्मभेदी बाणों से भरा था और चढ़े धनुष की ज्या के भीतर से होकर वाम हस्त तुरग की रज्जु

थामे हुए था। शक्तिपूर्वक रानों से अश्व के पार्श्वों को दबाए गर्वीला मस्तक उन्नत किए अत्यन्त स्वेच्छाचारी वाजि को शक्ति और संकेत से संयत करता यशस्वी शुंग जब सम्राट् की ओर बढ़ा, अपनी सेना को वह सेनानी कार्त्तिकेय सा प्रतीत हुआ।

पुष्यमित्र की शक्ति देख बृहद्रथ कुछ सहमा, परंतु उसे अपनी रक्षक सेना पर विश्वास था। वह आश्वस्त हो गया। सेनापति ने आगे बढ़कर उसका अभिवादन किया। सारी सेना ने मस्तक झुका दिया। परंतु सम्राट् के क्रोध की सीमा न रही जब सेना ने उसके बदले सेनापति का जयघोष किया। उसने फिरकर महामात्य के गज की ओर सार्थक दृष्टि से देखा। महामात्य ने अपना मुख सेना की ओर फेर लिया। सम्राट् ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि पुष्यमित्र पर डाली। परंतु सेनापति के नेत्र अड़ गए। उसकी दृष्टि सम्राट् की दृष्टि से मिल गई। सम्राट् की भौंहें तन गईं। सेनापति की मुट्ठी भल्लदंड पर कस गई। फिर सेना ने उन्मुक्त घोष किया—'मगध सेनापति शुंग पुष्यमित्र की जय'!

सम्राट् ने अवस्था असाधारण जान युक्ति से काम लेने की सोची। उसने शक्ति से क्रोध का दमन किया। अपने सम्मुख सेना द्वारा सेनापति का जयघोष वह पी गया। उसने सेनापति का प्रत्यभिवादन कर अपने उठते भावों को दबा सस्मित मुद्रा बना पुष्यमित्र से पूछा—सेनापति, तुम्हारी सेना विशेष विनयी प्रतीत होती है।

सम्राट् के बनाए स्वाभाविक स्वर में एक घूँट विष का आ ही गया। अपने कोप का वह उच्छृंखल बृहद्रथ सर्वथा दमन न कर सका। उसकी ग्रंथि भाषा में खुल ही पड़ी। प्रश्न में पुष्यमित्र को व्यंग्य का प्रचुर पुट जान पड़ा। उसने उसी भाषा में उत्तर दिया—देव, विनय स्थितिस्थापक सम्राट् की पाद-पीठी है। फिर कर्तव्यशील सम्राट् की उपस्थिति में सेना विशेष विनयी क्यों न प्रतीत हो ?

महामात्य ने उत्तर सुन मुसकरा दिया। रक्षक सेना के अध्यक्ष का घोड़ा कदाचित् सम्राट् के गज से भड़ककर कुछ दूर हट गया।

बृहद्रथ विष का घूँट फिर कंठगत करता हुआ बोला—सेनापति, सैन्य-संचालन की व्यवस्था करो। शीघ्र। मुझे विशेष कार्य से लौटना है।

सेनापति ने मस्तक झुकाकर अपना अश्व फिरा लिया। क्षण भर में वह विशाल सेना की मध्य पंक्ति के सम्मुख जा पहुँचा। अध्यक्षों को उसने सधे संकेत किए। अब तक सम्राट् का गज मध्यमार्ग की ऊँची प्रस्तर-भूमि पर विशाल पटमंडप के नीचे आ खड़ा हुआ था।

चतुरंगिणी सेना एक एक कर बृहद्रथ के सामने से अभिवादन करती निकलने लगी। पदाति-सेना का विस्तार अनंत सा प्रतीत हुआ। मूल-सेना के पश्चात् मगध की सेना आई, फिर अंतों और फिर प्रत्यंतों की। पदाति-सेना निकल गई। वेग से अश्वा-

रोही सेना भी सम्राट् के सामने से निकल गई। गजसेना धीरे धीरे चली और उसके पीछे रथों का संघट्ट चला। परंतु बृहद्रथ के हृदय में एक तीव्र शूल उठ रहा था। यह वैभव वह सोचता था कदाचित् उसका न था। जब तक सेनाएँ उसके सामने से निकलती रहीं वह अर्धसुप्त सा हौदे की गद्दी से पीठ लगाए चुपचाप पड़ा रहा। पूर्वाह्न के अनंतर जब चतुरंगिणी सेना उसके श्रीवितान की दूसरी ओर जा खड़ी हुई, उसने देखा सेना का एक स्कन्ध अभी तक जहाँ का तहाँ खड़ा है। बृहद्रथ ने पुष्यमित्र की ओर देखा, कुतूहलपूर्ण जिज्ञासा से। पुष्यमित्र ने कहा—वह साम्राज्य की नौसेना है, सामुद्रिक बंग की।

सम्राट् ने पूछा—निश्चल कैसे खड़ी है ?

सेनापति ने नावाध्यक्ष को संकेत किया। नावाध्यक्ष ने सेना को विनय-लक्षण से आदेश किया। आदेश-शब्द जैसे बहरे कानों पर पड़े।

सम्राट् को कुछ क्रोध हो आया। उसने स्वयं नौसेना को आगे बढ़ने का आदेश किया। नौसेना निश्चल खड़ी रही। न हिली।

उसने एक स्वर से माँगा—वेतन ! वेतन !

यह विप्लव का निर्घोष था, सबल, संक्रामक।

सारी सेना ने एक साथ माँगा—वेतन ! वेतन !

सेना के स्वर से आकाश गूँज उठा। अश्वों की हिनहिनाहट और गजों की चिंघाड़ भी उसी स्वर में जा मिली। बृहद्रथ का रोष अंतिम सीमा तक पहुँच चुका था।

उसने सेनापति को आज्ञा दी—नौसेना को बंदी करो।

सेनापति बोला—यह कैसे संभव है, देव ?

"कैसे ?" कुपित बृहद्रथ शीघ्र बोला—"सम्राट् की आज्ञा से।"

सेनापति ने धीरे धीरे, किन्तु दृढ़-गंभीर स्वर में, उत्तर दिया—देव, सम्राट् की आज्ञा तभी तक मान्य है जब तक सम्राट् राज्यारोहण के समय की गई प्रतिज्ञा का पालन करता है। प्रतिज्ञा-दुर्बल सम्राट् राष्ट्र-शरीर की केंद्रीय ग्रंथि खोल जब स्वयं स्वतंत्र हो जाता है राष्ट्र के शेष षष्ठांग भी अपनी ग्रंथियों को काट उच्छृंखल हो जाते हैं।

सेनापति ने अपने नेत्र बृहद्रथ के दृष्टिपथ में डाल दिये। उसके प्रशस्त ललाट पर एक भी रेखा न थी, एक भी स्वेदबिन्दु न था। क्रुद्ध बृहद्रथ का दक्षिण हस्त यवनी के धनुष की ओर बढ़ा। सेनापति ने भल्लदंड को अश्व के साजवाले अंकुश में डाल दिया।

बृहद्रथ ने सस्वर पुकारा—सेनापति !

सेनापति उसी पूर्वस्वर में बोला—बृहद्रथ !

मगधराज का धैर्य जाता रहा। दर्प और क्रोध से अंध बृहद्रथ ने चिल्लाकर कहा—धृष्टद्युम्न, सेनापति को बंदी करो।

धृष्टद्युम्न का अश्व साज की लौहरज्जु को दाँतों से काट रहा था, पृथ्वी को खुरों से कुरेद रहा था। उसका स्वामी चुपचाप अंतरिक्ष की ओर देखता रहा जैसे उसने सम्राट् की आज्ञा सुनी ही नहीं। इसी समय सेना ने फिर 'वेतन ! वेतन !' की

पुकार मचाई। साथ ही उसने सेनापति के नाम का फिर जयघोष किया।

सेनापति का गंभीर स्वर फिर सुन पड़ा—बृहद्रथ, प्रतिज्ञा-दुर्बल सम्राट् की आज्ञा माननेवाला प्रजाद्रोही है, राष्ट्र का शत्रु। ऐसे सम्राट् की गति वेण और नन्द की होगी।

बृहद्रथ ने पार्श्ववर्ती यवनी के कर से झपटकर धनुष छीन लिया परंतु उसके शरसन्धान के पूर्व ही पुष्यमित्र के आकर्ण-मुक्त विषाक्त क्षुरप्र ने उसके वज्रवर्म को विदीर्ण कर दिया। सम्राट् का मस्तक धीरे धीरे हौदे की वेदिका पर लुढ़क गया। सेनापति के जयघोष से वातावरण गूँज उठा।

महामात्य ने बृहद्रथ के तप्त शोणित से तत्क्षण पुष्यमित्र का तिलक कर दिया।

देर तक दिगन्त में सेना के निर्घोष की प्रतिध्वनि होती रही—"सेनापति पुष्यमित्र की जय!" "सम्राट् शुंग पुष्यमित्र की जय!"

३

पुष्यमित्र के विरोध में बौद्धसंघ ने विप्लव का झंडा उठाया। पाटलिपुत्र का महाविहार बौद्ध षड्यन्त्रों का केन्द्र बन गया। श्रमण बौद्ध उपासकों को सेनापति के विरुद्ध सर्वत्र भड़काने लगे। परंतु पुष्यमित्र ने प्रबल करों में राजदंड धारण किया था। उसके समक्ष उनकी एक न चली। उसकी सेना उसके संकेत पर मर मिटने के लिये सदा तत्पर रहने लगी। उसने भी सेना

से अपना आमृत्यु संबंध स्थिर रखने के हेतु प्रतिज्ञा की कि वह सदा 'सेनापति' के नाम से ही अपने शासनों को घोषित करेगा, 'सम्राट्' के नाम से कभी नहीं। इस आचरण ने उसे सेना के नेत्रों में और भी ऊपर उठा दिया।

ब्राह्मण-धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हुई। प्राचीन धर्मसूत्रों की नींव पर भार्गव ने मानव-धर्मशास्त्र का निर्माण किया। 'योगसूत्रों' की रचना कर पतंजलि ने तृप्ति प्राप्त की। अब वे 'महाभाष्य' की बृहदट्टालिका की नींव खड़ी करने लगे। रामायण और महाभारत के इतिहास नवीन वसनों से चमके। पाली पिछड़ी, संस्कृत सिंची। पैशाची गई, देवभाषा आई। संघशरण छोड़ जनता यज्ञशरण की ओर झुकी। याग-होम का पुनरुद्धार हुआ। ब्रह्मघोष से मगध का वातावरण गूँज उठा। मुंडित मस्तकों पर शिखा-वैजयन्ती फहराने लगी।

श्रमणों के हृदय में शूल उठा। गृहदाह एकमात्र अस्त्र दिखाई पड़ा। बौद्ध महाविहार में अनेक विभीषण जन्मे। महामेघवाहन खारवेल आंध्र-सातवाहन श्री शातकर्णी को पराजित कर वेणगंगा के प्रदेश को अभी अभी छीन चुका था। जैन-धर्मावलंबी कलिंगराज को पाटलिपुत्र के महास्थविर ने सुझाया— यदि सद्धर्म के लिए नहीं तो स्वधर्म के लिए ही इस ब्राह्मणधर्म के संवर्धक पुष्यमित्र का नाश करो। अहिंसा की मात्रा जैनधर्म में सद्धर्म से भी विशिष्ट है। मगध में बलि हो रही है, पशु कट रहे हैं। अशोक का बदला क्यों नहीं फेरते? नन्दराज द्वारा गृहीत

वह ऋषभदेव की अद्भुत प्रतिमा जैनों के पराभव और कालिंगों के कलंक का टीका होकर पाटलिपुत्र के प्रासाद में तुम्हारे विजयों पर व्यंग्य की हँसी हँसती है—उसे क्यों नहीं लाते ? और मगध का विस्तृत साम्राज्य क्या वेणगंगा-प्रदेश से कम समृद्ध है ?

खारवेल को युक्ति जँच गई। कलिंग की विशाल गजसेना ने मगध पर आक्रमण किया परंतु पुष्यमित्र की अश्वसेना ने उसे गोरथगिरि पर कई ठोकरें दीं। पुष्यमित्र ने मथुरा का मार्ग लिया, खारवेल कलिंगपत्तन लौटा। जिन-प्रतिमा उसे न मिली।

महामेघवाहन शक्तिसंचय कर फिर मगध की ओर बढ़ा। मगध के बौद्ध विहार और उपासक-नागरिक उसके साथ थे। एक वंचक भदंत ने मागध सैनिक के वेश में नगर का सिंहद्वार खोल दिया। कलिंग के मातंगों ने मगध के रथों को कुचल डाला। पुष्यमित्र ने साहस न छोड़ा। उसने राजकोश खोल दिया। लुटेरे धन लेकर भागे। ऋषभदेव की प्रतिमा लेकर खारवेल कलिंग लौटा।

बौद्धों का मन न भरा। उन्हें सद्धर्म का पुनरुद्धार करना था और ब्राह्मणधर्म का सर्वनाश।

× × × ×

भारतीय सीमा के उत्तर-पश्चिम के प्रत्यन्त आकाश में एक नक्षत्र धीरे धीरे अपना प्रकाश फैला रहा था। महास्थविर के नेत्र उस प्रभापुंज पर जा टिके। महास्थविर उधर चल पड़ा—यवनराज मिलिन्द को सद्धर्म में दीक्षित करने। वर्षों

के निरंतर प्रयत्न से महास्थविर सफल हुआ। यवनराज सद्धर्म में दीक्षित हो गया।

शिष्य ने जब गुरु के चरणों में मस्तक रख गुरु-दक्षिणा पूछी, गुरु ने माँगा—ब्राह्मण धर्म का ध्वंस, पुष्यमित्र का मस्तक, मगध का पराभव।

मिलिंद की उच्चाकांक्षाओं में गुदगुदी उठी। मगध-साम्राज्य की उपलब्धि की आशा से उसके नेत्र चमक उठे। अलिकसुन्दर जिस कार्य को न कर सका, उसे वह संपन्न करेगा यह सोचकर उसका हृत्कमल खिल उठा।

उसने प्रकट प्रतिज्ञा की—जब तक ब्राह्मण-धर्म का निधन और मगध का पराभव न कर लूँगा, जब तक पुष्यमित्र का मस्तक गुरुदेव के चरणों में न ला धरूँगा, विश्राम न लूँगा।

महास्थविर का चित्त स्थिर हुआ।

बौद्ध विहारों की वंचकता मिलिंद की सहायक थी। मिलिंद चला मगध के मूल पाटलिपुत्र की ओर काबुल, गंधार और पश्चिमोत्तर पंचाल के दीर्घकाय विक्रांत सामरिकों की सेना लिए। इस विशाल सेना के हरावल और पार्श्व में मनस्वी यवन अश्वारोही सन्नद्ध थे।

मिलिंद ने सिंधुनद का मुहाना अप्रयास ले लिया। सुराष्ट्र और पश्चिमी जनपद उसके चरणों में लोट गए। मथुरा को यवनवाहिनी ने रौंद डाला। माध्यमिका की लक्ष्मी छिन गई, साकेत की धवल कीर्ति मिट गई। पाटलिपुत्र की राज्यलक्ष्मी ने

अपने विक्रांत गोप्ता की ओर देखा। सेनानी देवसेना लिए दुर्ग के प्राचीरों से बाहर असुर की खोज में निकल पड़ा।

दूर के खुले मैदान में पुष्यमित्र की सेना ने यवनों की विपुल-वाहिनी पर आक्रमण कर कुछ ऐसी चोटें कीं कि काबुल, गंधार और पश्चिमोत्तर पंचाल के दीर्घकाय विक्रांत सामरिक किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गए, पार्श्व के अश्वानीकों के छक्के छूट गए, यवनों का हरावल टूट गया।

मागधों ने यवनों को रौंद डाला। काबुल, गंधार और पश्चिमोत्तर पंचाल के दीर्घ विक्रांत सामरिक भाग चले, हरावल और पार्श्ववर्ती मनस्वी यवन अश्वानीकों को आगे किए। सबसे आगे था मिलिंद और उसके पीछे था पाटलिपुत्र के बौद्ध विहार का महास्थविर।

पुष्यमित्र ने भागती यवन-सेना का पीछा किया। उसने प्रण किया कि अब वह मगध को यवन आक्रमणों से और ब्राह्मण-धर्म को बौद्धों की वंचकता से सदा के लिए सुरक्षित कर देगा।

उसके सेनाध्यक्षों ने माध्यमिका ले ली। स्वयं वह पंचाल की ओर बढ़ा। साकेत और मथुरा लाँघ उसने पंचाल ले लिया और पाटलिपुत्र से जालंधर तक के सारे बौद्ध विहारों की उसने अग्नि में आहुति की और इस महायज्ञ में उसने महास्थविर के साथ ही उसके असंख्य अनुयायियों को बलि दे दिया।

अश्वमेध

[पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध किया जैसा कि उसके अयोध्या-वाले शिलालेख से विदित है। सेना से अपना जीवित संपर्क बनाए रखने के अर्थ सम्राट् होने पर भी पुष्यमित्र ने अपने को केवल 'सेनापति' ही कहा। 'सेनापति' के नाम से ही उसके शासन-पत्र निकले, लेख घोषित हुए। ऐसा उसके शिलालेखों से जाना जाता है। कालिदास ने भी अपने 'मालविकाग्निमित्र' में पुष्यमित्र को इसी कारण 'सेनापति' ही कहा है। पुष्यमित्र का अपने वैदिशस्थ पुत्र युवराज अग्निमित्र को पत्र देना अनुमानतः ऐतिहासिक है और संभवतः कालिदास ने उसकी नकल गुप्तों के शासनविभाग के किसी सुरक्षित पत्र से की है। मालविकाग्निमित्र के उस पत्र का भावानुवाद प्रस्तुत कहानी में दिया गया है। यह अश्वमेध दूसरा होना चाहिए, अन्यथा सेनापति के पौत्र का अश्व का रक्षक होना संभव न होता। पुष्यमित्र बृहद्रथ का राज्य हस्तगत करने से पूर्व उसका सेनापति था। सेनापति के पद तक पहुँचते पहुँचते उसकी आयु ४० वर्ष की अवश्य हो गई होगी। इस यज्ञ के समय प्रौढ़ अग्निमित्र कालिदास के अनुसार विदिशा का राजा है। उसकी अवस्था यदि ४० मानी जाय तो वसुमित्र और सेनापति की क्रमशः २० और ६० होनी चाहिए। और यदि अग्निमित्र को विदिशा प्रदेश का गोप्तृत्व बृहद्रथ के राज्यकाल में ही मिल गया हो, जो बहुत संभव है, तो सेनापति की आयु और भी अधिक हो सकती है। महर्षि पतंजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर अपने 'महाभाष्य' में सेनापति के अश्वमेध के प्रति संकेत किया है—'इह पुष्यमित्रं याजयामः'। संभवतः पतंजलि इस यज्ञ के ऋत्विज भी थे। 'स्वर्ण', 'पुराण' और 'धरण' में से पहला सोने का और शेष दोनों रजत के मिश्रित सिक्के थे।]

२०-१०-१९४० प्रातः ५—८-३०

१

"बधाई, कुमार, बधाई !" मगध-साम्राज्य के महामात्य के एकमात्र तनय वासुकि ने पौ फटने के पूर्व ही पुष्यमित्र के पौत्र कुमार वसुमित्र के शयनकक्ष में प्रवेश करते हुए कहा।

वसुमित्र ने दौड़कर प्रिय वयस्य को हृदय से लगा लिया। समाचार बड़े महत्त्व का था। कुमार इस संवाद के लिए सारी रात्रि जागता रहा था और मगध-सम्राट् तथा महामात्य इसी के संबन्ध में सारी रात्रि मंत्रणा करते रहे थे।

"कुमार, देखो, तुम्हें अश्व का दक्षिण पार्श्व और युद्ध में सेना का हरावल मुझे देना होगा।" वासुकि ने फिर कहा।

वसुमित्र आनन्द के समुद्र में लहरा रहा था। उसने वासुकि से पूछा—वासुकि, किससे सुना ? आर्य महामात्य से ?

"हाँ, वयस्य, पिता से। वे अभी अभी सम्राट् के शयनकक्ष से लौटे और आते ही उन्होंने कहा—'जा, वासुकि, अपने मित्र को बधाई दे आ। सेनापति ने कुमार को राजयज्ञ के अश्व का गोप्ता नियुक्त किया है।' ऐसा जान पड़ता है, कुमार, सारी रात्रि

मंत्रणा होती रही है। पर अन्त में तुम्हारी विजय हुई—न वसुज्येष्ठ नियुक्त हुए, न युवराज विदिशाधिपति।"

वसुमित्र ने दीवार से लटकते महर्षि पतंजलि के चित्र को मस्तक झुका दिया, फिर कहा—गुरुदेव, आशीर्वाद दो, बल दो।

इसी समय द्वारपाल वाहतक को सम्राट् के प्रासाद की ओर से आते देख वासुकि बोल उठा—वयस्य, देखो वे द्वारपाल आर्य वाहतक शुभ संवाद लिए आ रहे हैं। बोलो, कुमार, अश्व का दक्षिण पार्श्व और युद्ध में हरावल मुझे दोगे न?

"दूँगा, वयस्य, दूँगा।"

कुमार की बात समाप्त होते न होते द्वारपाल ने कक्ष में प्रवेश करते हुए कहा—राज-अश्व के गोप्ता कुमार वसुमित्र की जय हो!

"आर्य को वसुमित्र का प्रणाम।" वसुमित्र ने वासुकि के साथ ही द्वारपाल का अभिवादन किया।

द्वारपाल ने हेमदंड वाम कर में ले वसुमित्र के मस्तक पर धीरे धीरे दक्षिण कर फेरते हुए कहा—कुमार, सेनापति मंत्रणागृह में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। सत्वर चलो।

वासुकि को एक बार फिर हृदय से लगा वसुमित्र दंडधर के साथ कक्ष से बहिर्गत हो गया।

जब उसने मंत्रणागृह में प्रवेश किया सम्राट् शयन के वस्त्र पहने धीरे धीरे कक्ष में टहल रहे थे। श्वेत लंबे केश ग्रीवा पर बिखरे थे और सकच्छ धोती का उपरिभाग चौड़े उत्तरीय से कुछ ढका था। रात्रि के जागरण और कर्तव्य की चिन्ता के

कारण वृद्ध सेनापति के मुख पर कुछ शिथिलता छा गई थी। कुमार ने प्रवेश कर जब पितामह के चरण छुए, सम्राट् ने कहा—आयुष्मान्, वसुमित्र, कदाचित् तुम सुन चुके हो।

विनीत कुमार ने नतमस्तक हो स्वीकार किया—हाँ, देव, अभी अभी वासुकि ने कहा। परन्तु क्या संवाद गोपनीय था?

"नहीं, वसुमित्र, मैंने स्वयं यह इच्छा प्रकट की थी कि यह संदेश तुम्हें शीघ्र से शीघ्र मिले।" सम्राट् कुमार की ओर प्यार से देखते हुए बोले।

"अनुगृहीत हूँ, देव।" कुमार ने झुकते हुए कहा।

सम्राट् वसुमित्र की ओर एक पग बढ़कर बोले—वसुमित्र, इस नियुक्ति में कृतज्ञता-ज्ञापन से कहीं बढ़कर राष्ट्र-सेवा की आवश्यकता है। कार्य सुकर नहीं। वह है अत्यन्त कठिन। और तुम्हारा यह अनुग्रह-ज्ञापन मेरे प्रति नहीं प्रत्युत गुरुदेव महर्षि पतंजलि और महामात्य के प्रति अधिक उचित होगा। उन्हीं महानुभावों के अनुरोध से तुम्हारी नियुक्ति हुई है, कुमार, मैंने तो सारी रात्रि उनके प्रस्ताव का विरोध किया है। और तुम जानते हो—क्यों?

वसुमित्र चुपचाप सम्राट् के चरणों की ओर देखता रहा।

दक्षिण कर्ण के कुंडल को केशों से पृथक् करते हुए मगधराज ने फिर कहा—देखो, वसुमित्र, तुम्हें इस गोप्ता पद पर नियुक्त करने में मुझे विशेष आपत्ति थी, संकोच था। उसका कारण राजनीतिक नहीं, पारिवारिक है। तुम जानते हो कि अग्निमित्र

विलासी है और सौभाग्यवती धारिणी के तुम एकमात्र धन हो। मैं जानता हूँ जहाँ एक ओर उसे तुम्हारे अधिकार से गर्व होगा, वहीं इस घोर कर्म से आकुलता होगी। मेरा उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है, वसु, उतना ही जितना धारिणी क्लेशित है, उतना ही जितना तुम्हारा पिता विलासी है।

मगधराज तनिक चुप हो रहे।

पिता की निन्दा सुनकर वसुमित्र ने एक ठंढी साँस ली। फिर उसने पितामह से पूछा—क्या सेनापति का मेरे ऊपर अधिकार नहीं है?

वसुमित्र का प्रश्न सुनकर कठोरहृदय सम्राट् के नेत्रों में आँसू भर आए।

सम्राट् बोला—कितना धन्य होता मैं, वसुमित्र, यदि यही उत्तर तुम्हारे पिता ने दिया होता। और तुम उसी पिता के पुत्र हो! मुझे बड़ी व्याकुलता है कहीं वह अपनी धरोहर तुम्हारी अनुपस्थिति में माँग न बैठे।

सम्राट् फिर धीरे धीरे मंत्रणागृह में टहलने लगे। वसुमित्र का हृदय वृद्ध की सहवेदना में कराह उठा।

सम्राट् ने फिर कहा—वसुमित्र, बड़े उत्तरदायित्व का कार्य है। शक्ति और नीति दोनों का प्रयोग करना होगा।

वसुमित्र कुछ खिंच उठा। बोला—क्या मेरी शक्ति और साहस में सेनापति को सन्देह है?

"नहीं, वसुमित्र, नहीं। मुझे कायर मत समझो और न यही समझो कि सेनापति का वार्धक्य वात्सल्य से दुर्बल हो उठा है। सो बात नहीं है, वसु। कभी न कभी मुझे अपना गुरुभार किसी न किसी कन्धे पर डालना ही होगा। सुनो, कुमार, मैं तुम्हें दुर्बल नहीं समझता, क्योंकि तुम्हारी ही वय में मैं सोमशर्मा मौर्य के एक प्रधान गुल्म का अधिनायक था और उस अष्टादश वर्ष की अवस्था में ही मैंने भीषण यवनों से इसी पाटलिपुत्र में लोहा लिया था।" सम्राट् बोलते बोलते फिर रुक गए।

वसुमित्र बलिष्ठ वृद्ध के फूलते और संकुचित होते श्वेतश्मश्रु से आच्छादित नथनों को देखता रहा।

सम्राट् ने फिर कहना प्रारम्भ किया—देखो, वसुमित्र, सुनो। अश्व की रक्षा असाधारण कार्य है, अत्यन्त घोर, अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण। यदि कहीं अश्व न फिरा तो सारा विश्व मुझे प्रतारित करेगा, मुझ पर हँसेगा। पहले अश्वमेध के अश्व का स्वयं मैं गोप्ता था। अभी तक सीमाप्रान्त पर यवनों का प्रभुत्व है और इस अश्वमेध में पंचाल पूर्णतया हमारे वश में होना उचित है।

वसुमित्र ने घुटने टेक दिए—देव, प्रतिज्ञा करता हूँ कि बिना अश्व के वसुमित्र आपके चरणों में न लौटेगा और...

वसुमित्र की बात काटते हुए सम्राट् ने उसकी ओर बढ़ते हुए कहा—बस, बस, वसु, रहने दे। तेरी प्रतिज्ञा की दोनों ही अवस्थाएँ मुझे अग्राह्य हैं। और अधिक मुझे अधीर न कर।

फिर वसुमित्र के दोनों कन्धे पकड़कर हिलाते हुए सम्राट् ने फिर कहा—अच्छा देख, वसुमित्र, तू अब जा। कल तेरी पूजा होगी, तेरे अश्व की होगी। गुरुदेव करेंगे, मैं करूँगा, महामात्य करेंगे। कल मगध-साम्राज्य का तू सर्वश्रेष्ठ सैनिक बनेगा और एक वर्ष पर्यंत तुझे विशेष आदर मिलेगा। तू जा, अब सो रह। बस इतना स्मरण रख कि शक्ति के दंड पर बुद्धि का फलक रखना और उस फलक पर नीति की तीक्ष्ण धार करना। जाओ।

जब वसुमित्र सम्राट् के आदेश से अपने प्रासाद को लौटा, उसके कन्धे दुख रहे थे। उसने जाना वृद्ध के करों में अभी प्रचुर शक्ति है।

कक्ष में प्रवेश करते ही वसुमित्र ने वासुकि को खिले कमल की भाँति पुलकित पाया। वसुमित्र की मुद्रा इस समय सेनापति के मंत्रसंघात से गंभीर हो गई थी। वासुकि को देखते ही उसने कहा—वासुकि, तुम अब जाओ मैं सोऊँगा।

परन्तु वासुकि के चले जाने पर वसुमित्र सोया नहीं। वह शुंग-मित्रों के विशिष्ट देवता सद्य: उदित सूर्य की ओर घुटने टेक कर बैठ गया और लगा शक्ति की याचना करने।

फिर उठकर वह पतंजलि का आशीर्वाद लेने धीरे धीरे चल पड़ा—उस तपोवन को जहाँ उसने ब्रह्मचर्य, ज्ञान और शीलशौर्य की शिक्षा पाई थी।

२

आज पुष्यमित्र राजसूय के अर्थ यज्ञशरण में बैठा। उसके श्वेत दुकूल शुभ्र शरीर पर अत्यन्त शोभते थे। आज उसके पार्श्व में वसुमित्र भी अभिषिक्त होकर बैठा। वसुमित्र के उज्ज्वल गात पर रक्त दुकूल फबता था। उसके अस्त्र-शस्त्र मंत्रपूत कर महर्षि पतंजलि ने उसको धारण कराए, फिर उसकी और रक्तवर्ण उत्तुंग अश्व की पूजा की। महर्षि के पश्चात् यजमान पुष्यमित्र ने 'गोप्ता' और अश्व की अर्चना की, तत्पश्चात् मगध की अमात्य-परिषत् ने। अन्त में ऐतरेय पद्धति से पूजा परिसमाप्त हुई और महर्षि के अथर्वमंत्रों के उच्चारण से वसुमित्र को शक्ति मिली।

चपल तुरग शक्तिपूर्वक माथा ऊँचा उठाए पश्चिम की ओर बढ़ा। शत राजपुत्रों द्वारा परावृत वर्महर वसुमित्र उसकी रक्षा को बढ़ा। अश्व के दक्षिण पार्श्व और भावी युद्धों में हरावल का स्वामी महामात्य का तनय वसुमित्र का अभिन्न-हृदय वासुकि था। रणवाद्य से आकाश जब गुंजायमान हो उठा मगधवाहिनी अश्व के पीछे चली। पाटलिपुत्र की रमणियों ने अट्टों से पुष्प और लाज की वर्षा की।

× × × ×

मथुरा की मगधसीमा से निकल जब निरर्गल तुरग पंचाल-मद्र की ओर चला एक के बाद दूसरा राजा दान-उपायन से दिग्वि-

जयी वसुमित्र की अभ्यर्थना करने लगा। जिसने अश्व को बाँधने का दुःसाहस किया, गोप्ता ने उसका बलपूर्वक विच्छेद कर दिया। धीरे धीरे वसुमित्र द्वारा विजित राजाओं की संख्या प्रचुर हो गई।

पंचाल में जहाँ तहाँ यवन बिखरे थे। वसुमित्र के साथ शक्ति-संतोलन का साहस तो उन्हें न हुआ परन्तु उन्होंने विजेता की प्रभुता भी स्वीकार न की। अपने राज्य और प्रदेश छोड़ वे पश्चिमोत्तर की ओर बढ़े। वसुमित्र ने उन्हें ललकारा परन्तु वे पीछे हटते गए। गोप्ता ने मद्र ले लिया और वह सिन्धुनद की ओर वेग से बढ़ा। गति उसकी अपनी न थी। राज-अश्व की गति पर उसकी गति भी निर्भर थी।

सिन्धुनद के दक्षिण तट पर मद्र और पंचाल से भागे हुए सारे यवनों ने डेरा डाला था। अब उन्होंने अश्वमेधयाजी के प्रतिनिधि से युद्ध ठाना। अश्व सिन्धुनद की धार में कूद पड़ा। यवन सेनापति के पुत्र ने उसे बाँध लिया। वासुकि ने बढ़कर भल्ल का ऐसा हाथ मारा कि दीर्घकाय यवन अपने अश्व के साथ ही सिन्धु का जल पीने लगा। घोर संमर्द छिड़ गया। ग्रीस और मगध के बीच भारतीय साम्राज्य के लिए यह अंतिम संघर्ष था। मगध को चोट सांघातिक सिद्ध हुई।

× × × ×

पुत्र के अधिकार का संवाद जब धारिणी ने सुना गर्व से उसकी छाती फूल उठी, परंतु भय से आकुल हो धीरे धीरे

उसने कहा—सेनापति ने पुत्रक को अति घोर कर्म में नियुक्त किया है।

अग्निमित्र ने भी धारिणी के साथ ही पुत्र का यह विशिष्ट गौरव सुना। उसके विलासी जीवन में भी विप्लव-सा उठ खड़ा हुआ। अंतपाल वीरसेन को आज्ञा दे उसने विदर्भ के मौर्यसचिव को बंदी कर लिया, फिर शीघ्र विदर्भ को विजय कर उसने उसे करद राज्य घोषित कर दिया। मगधराज्य की सीमा नर्मदा के दक्षिण वर्धा के तट से जा लगी। पुष्यमित्र विलासी के इस गौरव से हँसा।

× × × ×

यवनों को जीतकर एक वर्ष बाद अश्व के साथ वसुमित्र पाटलिपुत्र लौटा। अनेक विजित राजा उसके अनुचर थे। सारे मगध ने स्थान स्थान पर विजेता को अर्घ्य और लाज प्रदान किया, उसकी आरती उतारी। पाटलिपुत्र के राजपथ वन्दनवारों और मकरतोरणों से सज गए। नगर के प्रमुख द्वार पर स्वयं मगधाधिपति, गुरु और अमात्यपरिषत् के साथ, पूर्ण कलशों के पीछे वसुमित्र के स्वागत के लिए खड़ा था। जब विजेता ने सारे उत्तरापथ की विभूति उसके चरणों में रखते हुए उसको वन्दना की सेनापति ने उसे उठाकर हृदय से लगा लिया फिर भरे गद्गद कंठ से उसने महर्षि का अभिवादन किया।

× × × ×

पुष्यमित्र ने अग्निमित्र को लिखा—स्वस्ति। यज्ञशरण से सेनापति पुष्यमित्र का वैदिशस्थ पुत्र अग्निमित्र को स्नेहालिंगन। विदित हो कि राजसूय के निमित्त अभिषिक्त मैंने वर्ष पर्यन्त स्वतंत्र फिरने के लिए निरर्गल तुरग छोड़ा और शत राजपुत्रों से परिवृत वसुमित्र को उसका गोप्ता नियुक्त किया। यह अश्व सिन्धुनद के दक्षिण तट पर विचरता हुआ यवनों द्वारा प्रार्थित हुआ। तब दोनों दलों में भयंकर संमर्द छिड़ा। फिर विक्रान्त धन्वी वसुमित्र ने शत्रुओं का पराभव कर शक्तिपूर्वक ले जाते हुए यवनों से मेरे वाजिराज को लौटा लिया। अंशुमान की भाँति पौत्र वसुमित्र द्वारा लाए गए अश्व से अब मैं सगर की भाँति यज्ञ करूँगा। अतः तुम विगतरोष चित्त से शीघ्र मेरी कुलवधुओं के साथ आकर यज्ञ में भाग लो।

वसुमित्र की विजय के संवाद से विदिशा में अनेक उत्सव हुए। धारिणी और अन्य रानियों ने प्रसन्नता से अपने सारे आभूषण दान कर दिए। सेवक और अनुचर पारितोषिकों से ऋद्ध हो गए। अग्निमित्र ने अपने प्रदेश के वन्दियों को मुक्त कर दिया। शुकसारिका तक स्वतंत्र हो आकाश में उड़ चले। वन्दी-वैतालिक वसुमित्र का सुयश गा उठे। विदिशा की परिषत् पाटलिपुत्र पहुँची।

× × × ×

अश्वमेध की क्रियाओं की आज पूर्णाहुति थी। पुष्यमित्र का वैभव और तेज आज देखने योग्य था। अनेक विदेशी

पराजित राजा उसके चरण धोते, चमर झलते थे और उस यशस्वी सेनापति के नेत्र एक एक क्रिया के अन्त में चमक उठते थे। जब जब वह बृहत् स्रुवा से अग्निकुंड में अर्चित अश्व के कटे भाग डालता धूम्रावृत लपटें उठ उठकर उसके चमकते मुखमंडल को स्वर्णिम कर देतीं।
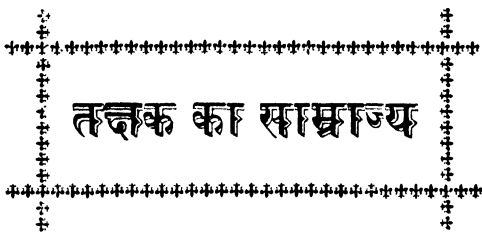
ऐतरेय की क्रियाएँ जब समाप्त हुईं महाऋत्विज महर्षि पतंजलि के साथ विशिष्ट होताओं के उन्नीस कंठ शक्तिदायी अथर्वमंत्रों का गान कर उठे। यज्ञ के देवता इन्द्र और शची के कानों में उसकी प्रतिध्वनि तप्त घृत सी पड़ी।

प्रधान ऋत्विज ने उपदेश किया—युगल अश्वमेधयाजी सेना-पति पुष्यमित्र, अपने इस एकछत्र साम्राज्य को भोगो। शक्ति और नीति से तुमने इसे प्राप्त किया है, बढ़ाया है, प्रेम और त्याग से इसका पालन करो। लोकतन्त्र दंडनीति है—देखो, कहीं उसका दुरुपयोग न हो। दंड को बलपूर्वक ग्रहण करो। साहसीक सत्त्व जनों के अन्नाद न हों, दोषरहित दंडित न हो इसका विशेष ध्यान रखो। नागरिक नागरिक में उचित व्यवहार में अंतर न डालो। भक्ति और पूजन के जो विविध मार्ग और उपकरण हैं उनका विरोध न करो। ब्राह्मण और श्रमण, ऋषि और श्वपच तुम्हारी छत्रछाया में भ्रातृभाव से बढ़ें। तुम अनंत ऐश्वर्य अनंत त्याग के स्वामी हो। स्वस्तीति।

मंगलवाद्य बज उठे। विजित राजा अपनी राजधानियों को लौटे। वन्दी-वैतालिकों ने विजेता अश्वमेधयाजी सेनापति

का यश गाया। वन्दी छूटे, पंजरबद्ध पक्षी सेनापति के शौर्य का संवाद ले दिगंत में उड़ चले। यज्ञ के स्मारक स्वरूप प्रस्तर-यूप और अश्व यज्ञशरण के द्वार पर खड़े हुए। 'स्वर्ण', 'पुराण' और 'धरण' अश्व की आकृति से चमके। सेनापति की प्रशस्ति-गाथा अयोध्या के शिलालेखों में खुदी।

———

तक्षक का साम्राज्य

[प्रस्तुत कहानी में शुंगकाल की तक्षणकला और तत्कालीन मृण्मूर्तिकला के प्रकाशन का प्रयास है। तक्षण पत्थर में प्रतिमाएँ खोदने और कोरने की कला को कहते हैं। बौद्ध स्तूपों की वेदिकाएँ (railing रेलिंग), विशेषकर साँची और भारहुत की, शुंगकाल में ही बनी थीं। शुंगकाल की प्रस्तरकला अद्भुत है। एक तब की यक्षी-मूर्ति मथुरा के अजायबघर में आज भी सुरक्षित है जो विस्मय-कारक है। इस समय की मिट्टी के खिलौने या प्रतिमाएँ भी अपूर्व हैं। मथुरा का शुंगकालीन 'पंचबाण', कामदेव की मूर्ति, वहाँ के अजायबघर में अब भी सुरक्षित है और 'वासवदत्ता-हरण' का ठीकरा भारत-कला-भवन, काशी में। वासवदत्ता और उदयन की कथा इस मानव-तरंगिणी की दूसरी तरंग की 'विलासी' नामक कहानी में वर्णित है और उस मिट्टी के ठीकरे का चित्र उसी तरंग के आवरण-पृष्ठ पर दिया गया है। समय द्वितीय शती ई० पू०।]

२२-१०-४०

प्रातः ७—१०

१

"मानसी !"

"आर्य !"

"तनिक प्रतिमा-पट्टिका में देखना, आज किन किन प्रतिमाओं का निर्यात है।"

मानसी उठी। उसने धीरे धीरे दीप जलाया, फिर प्रतिमा-पट्टिका लेकर मिति के नीचे पढ़ा—

"यवन-शैली—

(१) सीरिया—चमरहस्ता नारी—पुरुषाकार खड़ी—कुंचित-केश—सहस्र सुवर्ण।

(२) मिस्र—तालेमी की अश्वारोही मूर्ति—प्रतिमूर्ति के अनुरूप—श्मश्रुल—दो सहस्र सुवर्ण।

(३) साइरीन—भिक्षापात्र की देव-अर्चना—तोरण के ऊपर—पाँच शत सुवर्ण।

(४) मकदूनिया-अशोक—प्रतिमाएँ—दो—उपासक और श्रमण वेश में—बैठी—सहस्र सुवर्ण।

(५) एपिरस—यक्ष-प्रतिमा—बृहदाकार—चतुर्दर्शन—सहस्र सुवर्ण ।

"यवन-भारतीय शैली—

(१) पार्थव—मिथ्रदात-प्रतिमा—ऊर्ध्वार्द्ध—केश आग्रीव—श्मश्रुल—सोष्णीष—सहस्र सुवर्ण ।

(२) बह्लीक-यवन—दिवोदात प्रतिमा—अश्वारोही—कुंचित-केश—पट्टबद्ध—दो सहस्र सुवर्ण ।

(३) कम्बोज—कम्बोजिका—खड़ी — नारी — आकार—त्रिभंगी — तुंगनासा — कुंचितकेशिका—विडालनेत्रा—अधोवस्त्र-भूषिता यवनी—दो सहस्र सुवर्ण ।

"भारतीय शैली—

(१) सिंहल—बोधिवृक्ष—पाँच शत सुवर्ण ।

(२) मंजुपत्तन—चारुमती-प्रतिमा—पाँच शत सुवर्ण ।

(३) ताम्रलिप्ति—संघमित्रा-प्रतिमा—पाँच शत सुवर्ण ।"

मानसी पढ़ना समाप्त कर पट्टिका रखने चली। आचार्य ने उसे रोकते हुए कहा—मानसी, तुमने मृण्मूर्तियों का विवरण नहीं पढ़ा।

मानसी ने पढ़ा—

"भारतीय शैली—

(१) गंधार—दम्पति—दश सुवर्ण ।

(२) काश्मीर-श्रीनगर—किन्नर दम्पति— पाँच सुवर्ण ।

(३) सुवर्णभूमि—विकसित पद्म—दो सुवर्ण ।

(४) उज्जयिनी—वासवदत्ताहरण—दश सुवर्ण ।

(५) कामरूप—पंचबाण—खड़ी मूर्ति—पाँच सुवर्ण ।"

मानसी ने पट्टिका रख दी ।

आचार्य तक्षक बोला—सब ठीक है, मानसी । ये तक्षित प्रतिमाएँ कल मैंने प्रस्तुत कर गंभीरागार में रखवा दी हैं । आज उनके स्वामी उन्हें आकर ले जाएँगे । विदेशियों की प्रतिमाएँ वैदेशिक विभाग के प्रतिनिधि के समक्ष दी जाएँगी ।

मानसी बोली—वैदेशिक विभाग से कल ही एक राजपुरुष पूछने आया था कि प्रतिमाएँ तक्षित प्रस्तुत हैं कि नहीं ?

तक्षक ने धीरे धीरे कहा—सेनापति का वैदेशिक विभाग मौर्यों से कुछ कम सतर्क नहीं है, मानसी । और देखता हूँ उसकी वह शोणितलिप्सा भी अब मिट चली है ।

मानसी कुछ मुसकराती हुई बोली—आर्य, सो तो ठीक । परंतु उसकी कठोर नीति का कारण क्या श्रमणों का अनाचार न था ?

"था क्यों नहीं । वह तो मैंने तुमसे पहले ही कहा था । मैंने तभी कहा था कि दृप्त स्थविर तथागत के उपदेशों पर पानी फेर रहा है । परंतु अब सब ठीक है, मानसी । यह सब महर्षि के उपदेश का फल है । कहीं सद्धर्म में भी ऐसे ही देवता जन्म लेते ।" आचार्य ने पर्यंक से उठते हुए कहा ।

मानसी हँसती हुई चली ।

आचार्य ने उसे रोका—भला यह तो बताओ, तुमने मृण्मूर्तियों को स्वयं देख लिया है ?

प्रसन्नवदन पत्नी बोली—आर्य, देख तो नहीं लिया है प्रत्युत् उनका वर्णस्पर्श भी मैंने ही किया है।

तक्षक ने फिर कहा—और देखो, मानसी, एक काम करो। कोरी प्रतिमाओं और रंजित मृण्मूर्तियों पर निर्यात-संबंधी संकेत-चिह्न डाल दो और प्रत्येक पर उसके स्वामी का नाम भी अंकित कर दो।

मानसी चली।

आचार्य ने फिर रोका—एक बात और, प्रिये, आज से मुझे महाराज प्रियदर्शी के साँची वाले स्तूप की वेदिका और तोरणों पर काम करना होगा। भारहुत की स्तूप-पट्टिकाएँ भी उसी के साथ देनी होंगी। समय कुल तीन मास रह गया। आज मैं प्रातः पूजन करूँगा और समाधि के अनन्तर तक्षण आरंभ होगा। कलाविदों को संवाद भेज दो। और देखो इसी कारण मैं निर्यात के समय उपस्थित न रह सकूँगा। वहाँ तुम्हें ही रहना होगा।

मानसी पट्टिका लिए चली गई।

उसने दूर से गंभीरागार में आचार्य की फिर पुकार सुनी—

"मानसी ! मानसी !"

मानसी हँसती हुई शयनकक्ष में पहुँची। उसने उलाहना दिया—आर्य, इस अनुशासन से कुछ कर भी सकूँगी ? ऐसी

जल्दी क्या पड़ी रहती है ? पूरे पच्चीस वर्ष बीत गए, अब तो कुछ संयम से काम लो। और यदि मानसी के लिए ऐसी उतावली है तो वह तुम्हारी कला की पराकाष्ठा अद्भुत कारी जो 'मानसी' शृंगार-फलक पर रखी है उसी से क्यों नहीं तृप्ति करते ?

मानसी उलटे पाँवों फिर गई, हँसती, किलकती। प्रौढ़ तक्षक की पुकार—'मानसी! मानसी!' मानो उसने न सुनी।

आचार्य उठा, मुसकराता हुआ। उसने धीरे धीरे शृंगार-फलक की मानसी पर हाथ फेरते हुए कहा—मानसी, यदि तुम्हारी वही चपलता, वाक्चातुरी, तरल विलासिता इस प्रतिकृति में होती!

वह जा पहुँचा गंभीरागार में। सस्मितवदना मानसी आते ही कार्य में व्यस्त हो गई थी। पगध्वनि सुनते ही वह उठ खड़ी हुई।

आचार्य ने हँसते हुए धीरे धीरे प्रवेश किया। कहा—मानसी, मेरे स्वागत में खड़ी है न ?

"मैं कहती हूँ वृद्ध का विलास संयम से परे जा रहा है।" मानसी ने भृकुटिभंग कर हँसी रोके आचार्य को सावधान किया।

"तुम कहती हो, सही। पर वृद्ध तो ऐसा नहीं कहता, सखि ?" आचार्य ने बढ़कर मानसी को अंक में भर लिया, फिर उसके केशों को चूमकर बोला। उसकी मुद्रा में वात्सल्य था, विलास नहीं।

मानसी आचार्य से धीरे धीरे विलग होती हुई बोली—वास्तव में, आर्य, जब आप वेदिकास्तंभों के तक्षण में, यक्षी-प्रति-

मात्रों के कोरने में तीन मास पर्यंत समाधिस्थ हो बैठेंगे, आपकी समाधि में शैथिल्य न होगा ?

"नहीं, मानसो, उसमें शैथिल्य न होगा। शिथिलसमाधि वे कलाकार होते हैं जिनके ध्यान में अगोचर मूर्ति की रूपरेखा होती है। मैं तो अपनी समाधि में मानसी का आदर्श देखता हूँ। तुम देखोगी—जब मैं वेदिकास्तंभों की यक्षियों को कला से अनुप्राणित करूँगा, एक एक में मेरी मानसी सजीव हो बैठेगी।" आचार्य ने मानसी को फिर चूम लिया।

मानसी भागकर कम्बाजिका के पीछे जा खड़ी हुई।

× × ×

दिवस के आरम्भ में वैदिशिक विभाग से विदेशी अतिथियों के साथ राजपुरुष ने पाटलिपुत्र के अद्भुत कलावान् तक्षक बुद्धभद्र के विशाल प्रासाद के विस्तृत चतुष्क में प्रवेश किया। मानसी उनके स्वागत के अर्थ खड़ी थी।

मानसी ने राजपुरुष और अन्य अतिथियों से निवेदन किया—साँची और भारहुत के स्तूपों के वेदिकातक्षण में संलग्न आचार्य आपके परिचय का प्रसाद-लाभ न कर सकेंगे, इसका उन्हें बड़ा खेद है। ये प्रतिमाएँ आपके आदेशानुसार प्रस्तुत हैं।

फिर पट्टिका का एक एक विवरण पढ़कर वह एक एक ग्राहक को उसका कला-धन देने लगी। राजपुरुष साम्राज्य-पुस्तक में मूल्य का अंकन कर क्रेता और विक्रेता दोनों के हस्ताक्षर ले लेता।

मृण्मूर्तियों की अद्भुत छवि विदेशियों को देर तक रोके रही। हृदय में उन्होंने इनकी यवन कलाकृतियों से तुलना की, फिर सकुच गए। 'पंचबाण' और 'वासवदत्ताहरण' में अद्भुत सजीवता थी। ये मानसी के राज्य की अनोखी विभूतियाँ थीं, मानसी की सृजी। 'पंचबाण' और 'वासवदत्ताहरण' क्रमशः मथुरा और कौशाम्बी के अद्भुत कलाकारों के गौरव थे जिनको मानसी ने मूल से प्रतिकृति की थी। 'पंचबाण' में मदन सुन्दर विकसित फूलों के पाँच बाण लिए, सुन्दर धोती और अनेक आभूषण पहने खड़ा था। उसके धनुष में भ्रमरों की ज्या थी। ठीकरे पर पार्श्व, ऊर्ध्व और अधोभूमि में विकसित पुष्प बिखरे थे। 'वासवदत्ताहरण' भी कला का एक अद्भुत आदर्श था। विलासी उदयन प्रेयसी वासवदत्ता को आगे किए हाथ में वीणा लिए चण्ड प्रद्योत महासेन की राजधानी उज्जयिनी से भागा जा रहा था। भागते गज के पृष्ठभाग से आक्रमणकारी अवंति सैनिकों को दूर करने के लिए सुवर्ण-वर्षा की जा रही थी। भागता गज विदेशी दर्शकों के पगों में स्फूर्ति भरने लगा।

राजपुरुष तक्षक के इस कला-साम्राज्य के अद्भुत विस्तार पर चकित रह गया।

२

तीन मास बाद।

नगर के कोने कोने में संवाद फैल गया कि साँची के अशोक-स्तूप की वेदिका तक्षक आचार्य ने प्रस्तुत कर दी। प्रदर्शन के

अर्थ जब वेदिका अपने स्तंभों के साथ बुद्धभद्र के विस्तृत चतुष्क में रखी गई तो देश-विदेश सर्वत्र से दर्शक और कलाविद् आ आकर पाटलिपुत्र में भर गए। मिस्र, यूनान, मकदूनिया, एपिरस, साइरीन और सीरिया से, ईरान शकस्थान से, बाह्लीक तुखार से, गंधार कम्बोज से, सुवर्णभूमि सिंहल से, कलिंग अंध्र से, मथुरा कौशाम्बी से राजकीय कलाविदों ने आ आकर बुद्धभद्र द्वारा प्रस्तुत वेदिका देखी और उसकी एक एक रेखा की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। यक्षी-मूर्तियों की सजीवता ने किसके हृदय में घर न कर लिया।

विशाल तोरणों के कटे जंगलों पर विस्तृत जलूस उत्कीर्ण था। देवों का, गंधर्वों का, मानवों का, गजों का। सुन्दर कलँगियों-वाले उष्णीषों का अद्भुत तारतम्य लोगों का मन हरने लगा। पट्टिकाओं पर खुदी चलनेवालों की आकृतियों की गति कुछ ऐसी सजीव थी कि दर्शकों के पग उठने-से लगे। देश-विदेश के दर्शक साधारण जन और प्रतिभापूर्ण कलाविद् शिल्प-वास्तु की इस चमत्कृत शक्ति पर दाँतों अँगुली काटने लगे।

भीड़ में दीवार से लगा एक वृद्ध अपनी मुखाकृति कुछ छिपाए-सा खड़ा था। वह लोगों की दृष्टि बचा रहा था, परन्तु भले प्रकार देखनेवाला इस बात को बल-पूर्वक कह सकता था कि वह कोई असामान्य व्यक्ति था जिसे कला की इन सुन्दर वेदिकाओं को देख गर्व होता था और विदेशियों के प्रत्येक साधुवाद से जिसके नेत्र चमक उठते थे।

तोरणों की छवि निराली थी, विस्मयकारक। पश्चिमी और दक्षिणी तोरणों पर युद्ध के दृश्य उत्कीर्ण थे, सजीव, मनोहर। युद्ध अशोक का कालिंगों के प्रति था। पश्चिमी तोरणवाला दृश्य आक्रमण का था। गज, रथ और पदाति सेना ने सबल आक्रमण किया था। एक एक व्यक्ति, एक एक सैनिक युद्ध में व्यस्त था। सूँड़ लपेटे, दीर्घ दाँतों को उठाए गज अद्भुत धावा करते थे और युगलाश्व संयुत रथ आगे बढ़े जा रहे थे। सैनिकों के वेग से उष्णीषों के नीचे लटकते केशों के भीतर से उनके कुंडल मानों रह रहकर हिल उठते थे।

वही सेना दक्षिणी तोरण पर दुर्गारोहण कर रही थी। पदाति सेना पीछे हट गई थी और हरावल के गज और पार्श्व के रथ प्रबल वेग से प्राचीरों पर टूट रहे थे। सुंदर मूर्तियों से सजे दुर्ग के ऊँचे सुपुष्ट प्राचीरों पर स्थान स्थान पर सैनिक प्रहरी खड़े थे। अशोक स्वयं यदि इन दृश्यों को देखता, कदाचित् वह अपने बौद्ध चीवर वेग से उतार फेंकता।

दीवार से लगे खड़े उस असाधारण वृद्ध के चरण युगल कुछ गतिशील हो चले। वह उनमें एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव करने लगा।

पूर्वी तोरण पर स्वयं अशोक मूर्त था। उसका विशाल गज बैठा था और वह स्वयं उससे अभी अभी उतरकर खड़ा हुआ था। उसके दोनों ओर चँवरधारिणी यवनियाँ थीं और आगे उसके वस्त्र को उठाता सा एक बालक खड़ा था। समीप

ही उसकी रानी सुन्दरी तिष्यरक्षिता अपने सस्मित वदन से दर्शकों को रोमांचित करती खड़ी थी। पीछे अनेक संभ्रान्त श्रीमान् और सभासद, अनेक अनुचर खड़े थे। स्वयं अशोक की देवमुद्रा थी। वलयशोभित दक्षिण कर बालक के मस्तक से लगा था और त्रिभंगी मुद्रा के कटिभाग पर वाम कर टिका था। उत्तरीय गले से लटकता नाभि को छूता था और कुंडलों से भूषित कर्णों के ऊपर सुन्दर उष्णीष पत्रकलँगी से फबता था। विदेशी इस सौन्दर्य को देख चमत्कृत हो उठे, देशी गर्व से तन गए। दीवार से लगे व्यक्ति की बाछें खिल गईं।

फिर वेदिका के एक भाग में मनोहारी उपवनविनोद का दृश्य उत्कीर्ण था। ऊपर नीचे दो दाबें थीं। ऊपर की वेदिका-भूषित दाब का नीचे के दाब से एक सुन्दर सोपानमार्ग जोड़ता था। दोनों दाबों के उत्कीर्ण दृश्यों में उलटे शतदलछत्र के नीचे पार्श्व के कदलीस्तम्भों के बीच दम्पति पर्यंक पर बैठे भरे चषकों से कादम्बरी सेवन कर रहे थे। दोनों में एक एक और दम्पति अनेक उपकरणों से अपने को प्रसन्न कर रहे थे। इनकी यह अद्भुत क्रीड़ा देख सेवक पार्श्वचर—नर और नारी—चकित हो परस्पर कुछ गुनते थे। नीचे कमलों से भरी दीर्घिका का जल चमक रहा था।

भारहुतवाले स्तूप के अर्थ प्रस्तुत पट्टिकाओं के दृश्य भी अत्यंत आकर्षक थे। देवसभा 'सुधर्मा' का आकर्षण तो

अत्यधिक था। सबसे ऊपर अन्तराल के अर्धविकसित कमलों के बीच चतुष्क पट्टिकाएँ एक के ऊपर एक रखी थीं, नीचे दोनों ओर के सुन्दर कटे स्तंभों के बीच कई दृश्य उत्कीर्ण थे। चैत्य में रखे तथागत के उष्णीष की अर्चना हो रही थी। प्रत्येक द्वार से देवता निकल रहे थे। नीचे गन्धर्व और अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। एक दूसरे दृश्य में जेतवन का क्रय करने के लिए श्रेष्ठिराज सुदत्त भूमि को सुवर्णों से पाट रहा था। और अंत में वेदिका के एक भाग पर उस निगमसभा के प्रमुख श्रेष्ठि सुदत्त का मस्तक उत्कीर्ण था। यह शुंग-कला का वास्तव में मूर्धाभिषिक्त रत्न था। पूर्ण विकसित शतदल कमल का आश्चर्यजनक मंडल, और उसमें दक्षिण कर से दक्षिण कर्णकुंडल का कलित स्पर्श। वक्ष पर चौड़े हार और ग्रीवा में चित्रित ग्रैवेयक। और उस अपूर्व द्युतिमान् प्रशान्त सस्मित मुखमंडल पर वह उलटे केशों पर शोभायमान शुंग उष्णीष। दक्षिण ओर के वृत्ताकार चूड़ा के नीचे से निकलती फेंटे की अनेक लड़ियाँ अनेक पट्टों से दबी पीछे की चौड़ी खूँट में खो गई थीं।

दर्शक देखते रह गए।

दीवार से सटा व्यक्ति, प्रसन्न, उत्फुल्ल, अपने स्थान से हट धीरे धीरे एक ओर को चला। उससे कुछ दूरी पर जाते हुए राजपुरुष ने धीरे स्वर में सुना—"सेनापति, तुम्हारी नगरी धन्य है जहाँ बुद्धभद्र और मानसी से कलाकार शिल्प और

वास्तु की अक्षय कृतियाँ प्रसूत करते हैं। और, बुद्धभद्र, तेरा साम्राज्य ता सेनापति के साम्राज्य से कहीं विस्तृत है।"

दोनों धीरे धीरे पाटलिपुत्र के विशाल राजप्रासाद में प्रविष्ट हुए।

मौर्य सम्राट् पुष्यमित्र शुंग के दंडधर ने जिस समय आकर बुद्धभद्र से उसका प्रसाद कहा, कलाकार ने जैसे कुछ सुना ही नहीं। उसकी गंभोर मुद्रा में कुछ अन्तर न पड़ा।

दंडधर ने फिर कहा—आचार्य, देव की अभिलाषा है कि आप सम्राट् के सभाभवन के सभ्य हों, साम्राज्य की सभा में नित्य बैठें।

इस सम्मान ने तक्षक को आकर्षित न किया। वह हँसता हुआ बोला—मैं संसार का नागरिक हूँ, दंडधर, साम्राज्य का नहीं। मुझे उस ऐश्वर्य से क्या काम ?

दंडधर को आश्चर्य हुआ—जिसके प्रसादलाभ के अर्थ अनन्त श्रीमान् अहोरात्रि प्रयत्न करते हैं उसकी विभूति को भी तुच्छ समझनेवाले मनुष्य इस वसुन्धरा पर हैं। दंडधर चुपचाप चला गया।

× × ×

विजयादशमी के दिन साम्राज्य का महोत्सव था। पाटलिपुत्र नायिका सी सजी थी। राजप्रासाद का वैभव साम्राज्य के ऐश्वर्य से दमक रहा था। इसी अवसर पर पुष्यमित्र ने बुद्धभद्र की साम्राज्य के प्रथम नागरिक के रूप में

प्रतिष्ठा करनी चाही। उसकी पूजा के निमित्त बड़ी तैयारी की गई। परंतु जब उसे लाने के लिए दंडधर भेजा गया, कलाकार ने वही पूर्ववत् उत्तर दिया।

पुष्यमित्र राजप्रासाद से निकल पड़ा, मंत्रि-परिषद, अनुचर पीछे छोड़। जा पहुँचा सेनापति बुद्धभद्र के द्वार पर। सेनापति को आया जान तक्षक मानसी के साथ बाहर दौड़ा आया। उसने अतिथि का आदर किया, उसे मधुपर्क दिया।

अतिथि ने पूछा—आचार्य, मेरे ऊपर इतनी अकृपा क्यों ?

बुद्धभद्र ने उत्तर में कहा—देव, ऐश्वर्यवान् सम्राट् और दरिद्र कलाकार का कैसा सख्य ?

पुष्यमित्र बोला—आचार्य, वास्तविक सम्राट् तो तुम हो। तुम्हारा साम्राज्य सेनापति के साम्राज्य से कहीं विस्तृत है—यह मैंने उस दिन देखा जिस दिन साँची-भारहुत की वेदिकाओं का प्रदर्शन था। पुष्यमित्र तो उस अनन्त साम्राज्य का एक क्षुद्र नागरिक मात्र है। क्या उसके द्वार को तुम पवित्र न करोगे, आचार्य ?

तक्षक विजित हो गया। सेनापति के पीछे वह राजप्रासाद को चल पड़ा।

—

राज्यलिप्सा
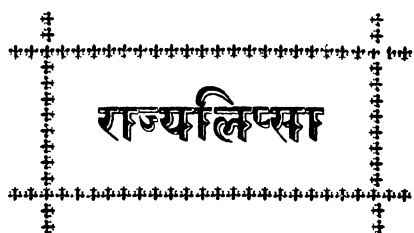
[कहानी अधिकतर ऐतिहासिक है। युक्रेतिद (Eukratides) के विप्लव, उसके तक्षशिला-दुर्ग की विजय और उसके पुत्र अपोलोदत्त (Apollodotos) द्वारा उसके वध की बातें ऐतिहासिक हैं। उनका उल्लेख जस्टिन (Justin) ने किया है। दिमिति (Demetrios) बह्लीक (बख्त्री = Bactria) का राजा था और उसकी भारतीय चढ़ाइयों के कारण उसे 'भारतीयों का राजा' भी कहते थे। हेलियाकल (Heliokles) ने अपने भाई अपोलोदत्त को मारकर अपने पिता की गद्दी छीन ली, यह भी इतिहासपरक है परन्तु यह बात स्पष्ट नहीं कि यह कार्य उसने अपनी राज्यलिप्सा से अथवा पिता के वध के प्रतिशोध के अर्थ किया था। अपोलोदत्त के बहुतेरे सिक्कों पर फिर से युक्रेतिद की प्रतिमूर्ति छपी है। संभव है, हेलियाकल ने अपने पिता का बदला लेकर अपोलोदत्त के सिक्कों पर पिता की प्रतिमूर्ति छापी हो। उसके प्रतिशोध में राज्यलिप्सा छिपी थी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। पर जब उसने पिता के नाम पर भाई की हत्या की तो उसके प्रमाण में कुछ करना भी आवश्यक था। युक्रेतिद के अनुयायियों को उसने इस प्रकार भाई के सिक्कों पर पिता की प्रतिमूर्ति छापकर अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इस कार्य से उसको अपने राज्य की नींव दृढ़ करने में बड़ी सहायता मिली होगी। किन्तु उसका शासन भी देर तक सुरक्षित न रह सका और हूणों द्वारा भगाए ऋषिकों से भागे शकों ने हेलियाकल के समय में ग्रीक यवनों के बख्त्री राज्य का ध्वंस कर दिया। समय २०० — १३० ई० पू०।]

२५-१०-१९४० प्रातः ५—९

१

भारतीय पश्चिमोत्तर प्रदेश का एक विशिष्ट भाग जीतकर जब युथिदेमो का पुत्र दिमितिय बह्लीक लौटा तब उसकी विजय के उपलक्ष्य में एक विशाल ओलिम्पिक का आयोजन किया गया। वंक्षु के तीर पर ऊँचे सपाट मैदान में यूनानी यवनों की पंक्तियाँ बैठ गईं। एक से एक सबल युवक शक्तिपरिचायक अंगों को हिलाते खेल के मैदान में उमड़ रहे थे। यूनान के इस उपनिवेश में कितने ही नवसैनिक स्वदेश छोड़ आ बसे थे। उन्हें एथेंस की धुँधली स्मृति पुनः स्पष्ट हो आई।

खेल की चहल-पहल से युवकों और प्रौढ़ों में एक नवजीवन का उदय हुआ था, एक नवीन स्फूर्ति भर चली थी। यवनराज दिमितिय स्वयं इस खेल में भाग ले रहा था और कितने ही कमनीय युवा उस शक्तिपरिचय में योग दे रहे थे। ग्रीक नवेलियों का वह पैंतिसवर्षीय सलोना, अनुपम और अप्रतिम युक्रेतिद जवानों की आँख की किरकिरी था, युवतियों के हृदय का दाह। हरिण के पगों की भाँति तीव्रगामी उसके चरण कभी

थकते ही न थे, सिंह की नाईं उसके पुष्ट चौड़े स्कन्ध विपत्तियों के हृदय में भय का संचार करते।

युक्रेतिद् के दोनों बेटे अपोलोदत्त और हेलिआकल वय में केवल एक वर्ष बड़े छोटे थे। अपोलोदत्त सत्रह वर्ष का और हेलिआकल सोलह वर्ष का था। दोनों की शक्ति और कमनीयता पर पिता की छाप पड़ी थी। अपोलोदत्त और हेलिआकल भी हँसते कूदते मैदान में उतरे। उनके साथ अनेक आए—मित्र और शत्रु, नवयुवक और प्रौढ़—सेलिउक का पुत्र गोनेतस, अन्तिओक का पुत्र फ्रेतर, क्रेतस का तनय कोमा, स्राता का पुत्र प्रेतर, एक से एक दुद्धर्ष, एक से एक सबल।

ओलिम्पिक के निर्णायक थे तीन वृद्ध—अग्रिम का तनय क्रेता, प्लेतो का पुत्र कोरस और प्रेतस का पुत्र कोनिस। तीनों अपने अपने समय में अनेक ओलिम्पिकों के विजेता था, अनेक दलों के नेता।

और उस विशाल ओलिम्पिक का महान् आकर्षण, दृष्टि-केन्द्र थी दिमितिय की सलोनी नवयुवती रानी एथेनी। आज के खेलों की पुरस्कारदात्री, विजय का मधुपात्र अपने अधर से सुवासित करनेवाली सुन्दरी नायिका वही एथेनी थी। एथेनी अनन्त यौवन की साध लिए अमित प्रभापुंज से आलोकित नक्षत्र-सी बह्लीक के गगन में उठी थी। जब दिमितिय ने तक्षशिला के यवनराज्य की विजय की थी, पराजित नरेश की चंचला कन्या एथेनी ने विजेता की शक्ति पर मुग्ध हो उसे पतिरूप में वरण किया था।

एथेनी बह्लीक आई, यौवन का भार लिए, विलास का उन्माद लिए। पर उसका संसार और था, दिमितिय का और। दिमितिय विलाससेवी न था पर एथेनी थी व्यसन-क्रीड़ाओं की अल्हड़ उन्मादिनी। दिमितिय के प्रबल भुजदंडों ने एथेनी को तक्षशिला के दुर्ग-प्राचीरों पर आकृष्ट किया था, परन्तु उसकी वह तृष्णा दाम्पत्य-काल के प्रारम्भिक दिनों में ही मिट गई। उसे अब दिमितिय की शक्तिशाली भुजाओं का बल आकर्षित न करता था। उसे अब वांछित था ऐसा नर जो उसके धीरे धीरे उठते करों को घुटने टेक धीरे ही धीरे सहलाता, फिर धीरे धीरे उसकी मुँदती आँखों पर अपनी आँखें रख आलससंयुत द्विधा वाणी से अपनी कथा कहता—वह मादक कथा जिसके मद से वह एकाकी विलासिनी उन्मत्त हो उठती। एथेनी को चाहिए था वह मदिरासक्त जन जो उसकी नवतृप्त साधों को नव प्रयास से पुनरुज्जीवित करता, उसके अनन्त क्रमित मानों का एक एक कर शमन करता। दिमितिय का सिंहविक्रम उसके उठते कमनीय भावों को झकझोर देता था, मत्त मतंग की भाँति वन्य कोंपलों को, पद्ममुकुलों को, कुचल देता था। उसके मानों का अनुराग भरा उत्तर दिमितिय के पास न था। फिर एथेनी का उठता हुआ सौरभ और दिमितिय का गिरता हुआ पौरुष—दोनों में प्रचुर वैषम्य था। और जैसे जैसे वह यवन-विजेता अपने युद्धों के अर्थ गृह से दूर भारत के भीतर की ओर अग्रसर होता वैसे ही वैसे वह एथेनी के हृदय-देश से दूर होता जाता।

विलासप्रिय उस एथेनी के हृदयाकाश में अनेक नक्षत्रों के बीच धीरे धीरे एक अद्भुत सुघड़ रश्मिपुंज उदय हो रहा था—वह था उस सलोने युक्रेतिद् का मादक रूप। युक्रेतिद् का मानस विलासिनियों के हृदय में उन्माद भरता था। परन्तु वह रूप का ऋद्ध नायक कभी उस विलास में न खोता था, कभी उसकी कामना उसकी मति के विपरीत न जाती थी। उसकी एक दूर की अभिलाषा थी जिसकी बेलि वह बड़े मनोयोग से सींचता। उस बेलि की जड़ें थीं महत्त्वाकांक्षाएँ, उसका प्रतान था कमनीय विलास और पुष्प थे शक्ति-लिप्सा।

युक्रेतिद् ने एथेनी के सालस नयन देखे थे, उसने उनमें उसके हृदय की भाषा पढ़ी थी। उसकी बुद्धि विहँसी। उसने विचारा—एथेनी का विलास उसकी महत्त्वाकांक्षा का सोपानमार्ग होगा। वह सुविधा की प्रतीक्षा में बैठा। सुविधाएँ आने लगीं, एक के बाद एक। दिमितिय की विजयों का ताँता कुछ ऐसा सुखप्रद हुआ जिससे तीनों प्राणी प्रसन्न हो उठे—दिमितिय अपनी विजयों से, एथेनी अपने विलास की परितृप्ति से और युक्रेतिद् अपनी शक्ति-लिप्सा के नित्यप्रति सरकते सामीप्य से।

परन्तु जैसा युक्रेतिद् चाहता था वैसा आचरण वह एथेनी न करती थी। वह अपना सर्वस्व युक्रेतिद् को अर्पण कर देने को तत्पर थी, परन्तु एक याचना, केवल एक भिक्षा उसकी थी जो वह उस मतिमान् प्रणयी के चरणों में लोट लोट माँगती—"देख, तू मुझे उस घृणित पाप का दोषी न बना।" अपने ही व्यंग्य

से व्याकुल हो फिर वह व्याख्या करती—"प्रणय की वंचकता और है, युक्रेतिद, और प्रणयी के जीवन के प्रति वंचकता और—अत्यन्त घृणित।" परन्तु वह नीति का अद्भुत विज्ञाता युक्रेतिद यहीं अड़ जाता। कहता—"वंचकता की परिभाषा नहीं, एथेनी। वह सर्वदा एक सी है। वंचकता मानवविवेक का एक अनित्य भावविशेष है, परन्तु जैसे मानवता के मानदंडों की नियत मर्यादा संभव नहीं वैसे ही वंचकता का कोई अर्थ नहीं, कोई रूप नहीं।" फिर वह प्रणय और विवेक के संघर्ष-समुद्र में डूबती-उतराती एथेनी को छोड़ चल देता।

आज उसने एथेनी पर प्रणय का अमित मादकता डालने की सोची। उसने विचारा—यदि इस ओलिम्पिक में सारे युवा-प्रौढ़ों के बीच से विजय का मधुपात्र वह छीन ले जाय तो एथेनी के उल्लास का वह एकमात्र केन्द्र बनेगा और असम्भव नहीं कि वह विलासिनी प्रणय की लहरों में विवेक को बहा दे। फिर? फिर, वह बह्लीक के साथ साथ उस भारतीय महाप्रदेश का अधिकारी होगा जो विश्वविजेता अलिकसुन्दर और सिलिउक के हृदयों में एक गाँठ-सा रह गया था।

प्राथमिक यौवन का शौर्य आज फिर एक बार युक्रेतिद के अन्तर में लहरें लेने लगा। और जब स्वयं दिमितिय ओलिम्पिक में भाग लेने के लिए मैदान में उतरा तब युक्रेतिद

ने उसे मन ही मन ललकारा—आओ, दिमितिय, आज तुम्हारी रानी एथेनी की भाँति ही तुम्हारा राज्य भी जीत लूँ।

× × × ×

ओलिम्पिक में एक से एक खिलाड़ी आए परन्तु विजय युक्रेतिद् के हाथ रही। रथ-धावन, अश्व-धावन, क्षिप्र-धावन, वृत्त-क्षेप, लौहकन्दुक-क्षेप, लक्ष्य-वेध, मल्ल-युद्ध प्रत्येक में युक्रेतिद् विजयी हुआ। उसके प्रति दिए गए साधुवाद से आकाश गूँज उठा। स्वयं दिमितिय का निर्घोष उस साधुवाद में कई बार सुन पड़ा। दिमितिय युक्रेतिद् का बड़ा सम्मान करता था। अश्वारोही सेना के सेनापति जैसे विशिष्ट पद पर उसने उसे बैठा रखा था और अब राज्य की सारी गृहनीति भी युक्रेतिद् की सम्मति से ही चलती थी। युक्रेतिद् की विजयों का सबसे बड़ा अभिमानी दिमितिय था परन्तु उसकी विजयों का सबसे बड़ा डाही उसका प्यारा मंत्री युक्रेतिद् ही था।

युक्रेतिद् जिस समय लोगों के साधुवाद सुन प्रसन्न हो रहा था, उस समय बह्लीक की यवन-कुमारिकाएँ और अन्य सुन्दरियाँ उसके लिए अनेक कामनाएँ कर रही थीं। उनके हृदयों में अन्तर्युद्ध छिड़ा था। स्वयं एथेनी उस अन्तर्युद्ध से न बची थी। इस अप्रतिरथ, ओलिम्पिक विजयी को पुकार पुकार-कर सर्वथा अपना कहने को उसका हृदय कातर हो उठा। आज उसका रोम रोम, अन्तर-बाहर सब युक्रेतिद् का था। आज

दिमितिय के साम्राज्य की कोई विभूति ऐसी न थी जिसे वह युक्रेतिद को सौंपकर अपने को धन्य न मानती।

जब युक्रेतिद विजय-गर्व से फूला, सिंह की गति से धीरे धीरे विजयश्री लेने एथेनी की ओर चला, उसके खुले शरीर की शिराएँ रज्जुओं-सी तनी हुई थीं। उसके अंग-प्रत्यंग फूल रहे थे और वह अपनी वंचक मुसकान को मोहन अस्त्र बनाए मन्थर गति से युवतियों की साधें कुचलता एथेनी की ओर बढ़ रहा था। स्वयं एथेनी के प्रसन्न हृदय में एक भय सा धीरे धीरे उठ रहा था—कहीं इन अनेक कमनीय रमणियों के ऊपर उस अतृप्त रसिक का मन न रम जाय। एथेनी का भय युक्रेतिद के पक्ष में पड़ा।

युक्रेतिद ने समीप आकर प्रेयसी पर एक सार्थक दृष्टि डाली। प्रेयसी आनन्द से विभोर हो उठी। उसने जाना, उसका प्रणयी सर्वथा उसका है और यदि वह अपनी विजय के सबल क्षणों में उसके प्रेम का आदर करता है, उन मदनमथित कामिनियों की ओर दृष्टिपात तक नहीं करता, तो अवश्य वह भी उसकी किसी अभिलाषा को अपूर्ण न रखेगी।

युक्रेतिद इस मानसिक युद्ध में भी सर्वथा सफल हुआ। उसकी हँसती आँखों ने एथेनी के हृदय की थाह पा ली।

साधुवाद के शब्दघोषों से व्याप्त गगन के नीचे युक्रेतिद ने एथेनी के अधरों द्वारा सुवासित मधुपात्र ले लिया और पास खड़ा देर तक वह उस चषक के अथाह मधु को पीता रहा।

एथेनी के नेत्र उसका वह भावमय मधुपान देख नाच उठे, भर आए।

घर जाते युक्रेतिद से जब एथेनी की परिचारिका ने अपनी स्वामिनी के संकेतस्थान की बात कही वह अपनी विजय पर हँसा। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की ओर वह एक पग और ऊपर सरका।

× × × ×

दिमितिय सुग्ध की सीमा पर गया हुआ था, राजधानी की रक्षा का भार अपने विश्वासी मित्र और आभारी सेवक युक्रेतिद के ऊपर छोड़कर। ठीक तभी जब वह आडम्बर-रहित यवन विजेता सुग्ध को जात युक्रेतिद को उसका एकमात्र शासक बनाने का कार्यक्रम निश्चित कर रहा था, युक्रेतिद अक्षोटों की घनी छाया में खड़ी एथेनी का सर्वस्व हरण कर रहा था, दिमितिय के हृदय में हाथ डाल उसका कौस्तुभ चुरा रहा था।

आज एथेनी ने युक्रेतिद के सभी प्रस्ताव स्वीकृत कर लिए, वह भयावह प्रस्ताव भी जिसका सदा उसने विरोध किया था।

प्रणयिनी को बार बार चूमता वह युक्रेतिद अक्षोटों की छाया से निकला और घर पहुँचते ही उसने अपोलोदत्त की सहायता से बलिवेदी पर दो अज चढ़ाए।

२

दिमितय फिर चला भारतीय प्रदेशों की विजय को, तक्षशिला के पूर्व, प्राची की ओर। उसका अभिन्न-हृदय युक्रेतिद उसकी अनुपस्थिति में उसके अनुरोध से बह्लीक देश का शासक बना।

जब दिमितिय की विश्वासी सेना की गंभीर पदध्वनि अस्पष्ट हो चली, युक्रेतिद का प्रच्छन्न कौशल धीरे धीरे अपने कार्य में दत्तचित्त हुआ और एथेनी ने भी उस वंचक नीति को अपनाया। परन्तु ज्यों ज्यों उसका नशा उतरने लगा त्यों त्यों अपने कार्य का अनौचित्य उसे खलने लगा। उसका कातर हृदय करुण चीत्कार कर उठा।

× × × ×

पहली बार जब दिमितिय भारत के उत्तरी प्रदेशों की विजय कर लौटा था उसके साथ कुछ विजित यवन शासक भी आए थे। विस्तृत राज्य-रूपी भवन में उसने इनको स्तंभ के रूप में खड़ा करना चाहा। इस अर्थ उसने उन्हें कुछ उच्च पद दिए। कुछ बह्लीक सेनापतियों ने इस नीति का विरोध भी किया था। इन विरोधियों में युक्रेतिद भी था। दिमितिय की उपस्थिति में उसका षड्यन्त्र पनप न सका था। परन्तु अब उसने इस विरोधी नीति की आड़ में ही अपना लक्ष्य साधना उचित समझा। उसके इस कार्य में अपोलोदत्त प्रमुख सहायक था और उसके सारे आज्ञापत्रों पर एथेनी के हस्ताक्षर होने लगे। इससे युक्रेतिद का कार्य और भी सरल हो गया।

धीरे धीरे विप्लव की आग बह्लीक नगरों में जल उठी। विदेशियों के विरोध में देश भर में नारे उठने लगे। युक्रेतिद ने देश के प्रमुख शासक के नाते इन नए पदाधिकारियों को पदच्युत कर दिया। उसके इस विधान पर भी एथेनी के हस्ताक्षर थे।

पहले उसके सधे चर इस नीति का बखान कर उठे, फिर राज्य के उदारचित्त अन्य पदाधिकारियों ने भी उस नीति की सराहना की। युक्रेतिद को रक्षक और परिपालक कहकर सारा देश उसका जयकार कर उठा। जिस मात्रा में उसकी लोकप्रियता बढ़ी उसी मात्रा में दिमितिय की घट चली। बड़े वेग से। उसके द्वारा नियुक्त विदेशी और उनके अन्य पार्श्वचरों में से कुछ तो मार डाले गए, कुछ भाग निकले। इनके स्थान पर नियुक्त नए पदाधिकारी स्वभावत: युक्रेतिद के क्रीतदास हो गए।

दिमितिय की शासन-नीति अब उसी के शासन में सर्वथा विदेशी हो गई। धीरे धीरे उसकी अनुपस्थिति में प्रजा ने युक्रेतिद को अपना राजा बनाया और युक्रेतिद अपनी प्रजा का अनुरोध न टाल सका। उसे उसका वह अनुरोध स्वीकार करना पड़ा। परन्तु जिस दिन वह अभिषिक्त हुआ उसी दिन एथेनी का निर्जीव शरीर दुर्ग के बड़े सरोवर में तैरता हुआ पाया गया।

३

युक्रेतिद ने अपने उत्तराधिकारी अपोलोदत्त को राजकार्य सिखाने के निमित्त अपनी शरीर-रक्षक सेना का अध्यक्ष बना लिया। शासन की बागडोर का एक बड़ा भाग उसने पुत्र के हाथ में दे दिया। व्याघ्र-शावक को रक्त का स्वाद मिला। वह कुछ तनकर खड़ा हो गया। चोट करने के लिए वह अवसर ढूँढ़ने लगा।

अपोलोदत्त बालपन से ही षड्यन्त्रप्रिय था। दिमितिय के विरुद्ध विप्लव में उसने पिता का हाथ बँटाया था। अब वह शासन को पूर्णतया अपने कर में लेने के हेतु आकुल हो उठा।

युक्रेतिद भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त को हस्तगत करने भारतीय सीमा की ओर बढ़ा। उसके साथ उसकी शरीर-रक्षक सेना का अधिनायक अपोलोदत्त भी था। उसकी विशाल सेना ने शीघ्र ही सीमा-प्रान्त को अपने अधीन कर लिया। युक्रेतिद ने सीमा के सारे दुर्गों में अपनी सेना का कोई न कोई अंश रख दिया। परन्तु जब वह तक्षशिला के दुर्ग में पहुँचा उसके पास केवल उसकी शरीर-रक्षक सेना के एक सौ सैनिक और दो सौ दूसरी अश्वारोही सेना बच रही थी।

पर उसे कोई चिन्ता न थी। अब उसे घर लौटना था। सीमाप्रान्त सुरक्षित था। तक्षशिला के विशाल दुर्ग में लौटने के पूर्व कुछ विश्राम करने की इच्छा से उसने डेरा डाल दिया।

धीरे धीरे अपोलोदत्त ने अपनी सेना को साध लिया। परन्तु अभी अवसर मिलना कठिन हो रहा था। शेष दो सौ सेना युक्रेतिद की रक्षा में सन्नद्ध थी जो उसके प्रतिकारी के क्षणभर में टुकड़े टुकड़े कर डालती। अपोलोदत्त झिझका।

× × × ×

रात्रि के अन्धकार में दुर्गरक्षक सेना प्राचीरों के पहरे में द्वार-शिखरों के तोरणों में आ जा रही थी। यकायक पूर्व की ओर से घोड़ों की टापों की ध्वनि आने लगी। अनेक घोड़ों की, शतों, सहस्रों की।

युक्रेतिद सोते से जागा। प्रहरियों का संवाद सुन वह वेग से उठ बैठा। उसने कहा—दुर्ग की दीवारें फिर से भले प्रकार देख लो। कहीं कोई द्वार खुला न रहे। भारी युद्ध की संभावना है।

उसने अपोलोदत्त को बुलाकर कहा—अपोलो, तैयार हो जाओ। दिमितिय को विप्लव का संवाद मिल चुका है। वह अपनी सेना लिए पूर्व से लौट रहा है। युद्ध अवश्यंभावी है और स्मरण रखो, उसकी घनता प्रचुर होगी।

अपोलोदत्त अपनी ही चिन्ताओं से दब रहा था। एक के बाद एक भावना उसके विचारों को आक्रान्त करने लगी—प्रत्येक भयानक, लुभावनी। पिता की बात सुन वह कुछ घबरा उठा। फिर संयत हो उसने कहा—परन्तु सेना कहाँ है? कैसे लड़ सकेंगे? कुल एक सौ शरीर-रक्षक सेना है और दो सौ अन्य दुर्ग-रक्षक सेना।

युक्रेतिद ने पुत्र की पीठ ठोंकते हुए कहा—अपोलो, जाओ प्राचीरों को देखो। केवल सेना से ही युद्ध नहीं होता। युद्ध जीतने के और भी साधन होते हैं। मैंने कौशल से यह सुविस्तृत राज्य पाया है। कौशल से ही उसकी रक्षा भी करूँगा। दिमितिय खुले मैदान का विजेता है परन्तु कूटनीति के पाठ वह मुझसे पढ़ेगा।

नतमस्तक हो अपोलोदत्त प्राचीरों की ओर चला और युक्रेतिद रसद के गुदाम की ओर। दुर्ग में तीन सौ सेना के लिए भोजन और जल प्रचुर था। लगभग वर्ष भर को। आश्वस्त हो युक्रेतिद प्राचीरों की ओर लौटा।

आकाश में उषा की लाली के साथ ही वेग से आते हुए अश्वारोहियों के आगमन का प्रमाण पूर्व में उठती धूल से मिला। युक्रेतिद् इस बीच प्राचीर के एक एक बुर्ज में हो आया, एक एक सैनिक की पीठ ठोंक आया। एक एक को उसने समझाया—आक्रमणकारियों की संख्या बड़ी होगी। संख्या से मत डरो, विजय हमारी होगी। परन्तु स्मरण रखो मिथ्या शौर्य के प्रदर्शन में जीवन नष्ट न करना। एक एक जीवन का इस समय अनन्त मूल्य है। आदेश की प्रतीक्षा करो।

× × × ×

आक्रमणकारियों की संख्या साठ सहस्र थी और उनके आगे था विजेता दिमितिय, उन्हें ललकारता, युक्रेतिद् को प्रचारता। युक्रेतिद् चुपचाप प्राचीरों के गर्भ से अपनी क्षुद्र सेना को बढ़ावा देता रहा, आदेश करता रहा। तक्षशिला के दुर्ग के चारों ओर घेरा पड़ा था। युक्रेतिद् के आदेशानुसार दुर्ग के सैनिक एक साथ चारों ओर बाणों की वर्षा करते और झट एक साथ शत्रुओं के आक्रमण के पूर्व प्राचीर-गर्भ में जा छिपते। कई दिनों तक इसी प्रकार युद्ध चलता रहा। दिमितय ने समझा भीतर सेना की संख्या प्रचुर है। उसकी सेना का एक सैनिक भी प्राचीर के किसी भाग पर न चढ़ सका। वह चुपचाप घेरा डाले पड़ा रहा।

वार, सप्ताह बीते। मास भी बीत चले। दिमितिय को पता चल गया था कि युक्रेतिद् दुर्ग में छिपा हुआ है। उसे प्रतिशोध लेना था उस मनुष्यता के शत्रु युक्रेतिद् से। कभी कभी वह पूर्व से

लाए हाथियों से दुर्ग का प्राचीर ताड़ने का प्रयत्न करता परन्तु उसका दिन भर का प्रयत्न रात्रि में युक्रेतिद् की सतर्कता से निष्फल हो जाता। युक्रेतिद् असुर की क्षमता से कार्य कर रहा था।

एक बार फिर अपोलादत्त की घातक भावनाओं ने उसे धर दबाया। उसने शत्रु से पिता के विरोध में सम्बन्ध स्थापित करने की सोची, परन्तु युक्रेतिद की सतर्कता ऐसी थी कि वह कुछ भी न कर सका। फिर स्वयं उसके भविष्य का भी उस समय कुछ ठिकाना न था। वह चुप हो अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

छः मास बीत चले, दुर्ग ने आत्मसमर्पण न किया। दिमितिय ने अपना पौरुष और बल नष्ट करना उचित न समझा। पूर्व में उसका प्रसर जारी था। उसने पश्चिमी प्रान्तों से हाथ खींच लेना ही स्थिर किया। उसने सन्धि की शर्तें भेजीं—तक्षशिला दोनों राज्यों की सीमा मानी जाय। उसके पश्चिम में दिमितिय अपने पैर न धरे और न उसके पूर्व युक्रेतिद् ही अपनी लालसा बढ़ाए।

दिमितिय पूर्व की ओर फिर लौट पड़ा। दुर्ग में ओलिम्पिक के साधन चमके। विजयी युक्रेतिद् ने महीने भर उत्सव मना दुर्ग छोड़ा। वह घर की ओर चला। कुल दो सौ सेना उसके साथ थी। अपोलोदत्त की राज्य-लिप्सा फिर जाग उठी।

बह्लीक की पूर्वी सीमा पर नाच-रङ्ग जमा। युक्रेतिद् वारुणी के मद में झूम रहा था, विजय के दर्प में चूर। इसी समय अपोलोदत्त ने उसका हृदय-द्वार उन्मुक्त कर दिया। युक्रेतिद् अपने घातक को जान तक न सका और उसके लाड़ले बेटे ने

उसे समाधि का सौभाग्य भी न दिया। जब पिता रक्त से लथपथ पड़ा था, पुत्र ने रथ को अनेक बार उसके शव पर दौड़ा दिया। उसके रक्त से उसने रथ के चक्के रँग डाले। जब सेना में क्रान्ति के लक्षण दिखाई पड़े, अपोलोदत्त ने कोष लुटा दिया। सेना ने उसका वहीं अभिसिंचन कर दिया।

हेलिआकल सुग्ध की ओर था। अपोलोदत्त ने शीघ्र बढ़कर बह्लीक का सिंहासन हस्तगत कर लिया।

४

अपोलोदत्त के सिंहासनारोहण के बाद ही बह्लीक में आमोद-प्रमोद होने लगे। विलास-व्यसन पदाधिकारियों के घर घर बढ़ने लगे। कृतघ्न युक्रेतिद् शासन में संयत ऋषि था, पितृहन्ता अपोलोदत्त राक्षस! उसके स्वेच्छाचारी शासन से स्वतंत्रताप्रिय यवनों का जी ऊब गया।

हेलिआकल देश-विदेश में मारा मारा फिरता रहा। उसमें राज्यलिप्सा कुछ कम न थी। परन्तु साधन उसके पास थोड़े थे। कुछ कर सकना कठिन था। परन्तु पिता के बहुतेरे गुण हेलिआकल में उतर आए थे। वह भी अपनी धुन का पक्का था। जब अपोलोदत्त के अनाचारी शासन से प्रजा का जी ऊबने लगा, हेलिआकल ने वेश बदलकर नगरों में जाना प्रारंभ किया। नगर में फिर फिर वह विप्लव की आग सुलगाने लगा। विदेशों में जा जा वह पिता के नाम पर शक्ति की भीख माँगता सैन्य का संचय करता।

धीरे धीरे उसके लगाए बीज ने अंकुर फेंका। विप्लव की आग जल उठी। अपोलोदत्त ने राजधानी छोड़ बाहर भागने का प्रयत्न किया परन्तु हेलिआकल के अश्व उसे भले प्रकार पहिचानते थे। उसके घोड़े अब हेलिआकल के थे और उन्होंने अपने पूर्व स्वामी को अपनी टापों तले रौंद डाला।

× × × ×

हेलिआकल गद्दी पर बैठा। उसने पिता के सारे कार्यों का पुनरुद्धार किया। अवसर उसके पक्ष में था। लोगों ने जाना योग्य पुत्र ने पिता के वध का प्रतिशोध लिया। इस विचार से हेलिआकल ने पुष्टि दी। उसने अपोलोदत्त के सिक्कों पर पिता की प्रतिमूर्ति फिर छापी।

इस प्रकार यह विप्लव का तारतम्य चलता रहा। दिमितिय से लेकर युक्रेतिद ने अपोलोदत्त को, अपोलोदत्त ने हेलिआकल को दिया। और हेलिआकल? क्या वह स्वयं उस लिप्सा को देर तक भोग सका?

शीघ्र चीन की पश्चिमोत्तर-सीमा पर एक भयंकर आँधी उठी। वहाँ के भगोड़े हूणों की, जो ऋषिकों को धकेलती हुई पश्चिम के शकों से जा टकराई। शकों ने पार्थव राजा फ़्रात का ध्वंस कर वंक्षु की तलेटी में शरण ली। उनके धक्के से हेलिआकल की रीढ़ टूट गई। दिमितिय और युक्रेतिद का यवन-साम्राज्य चूर चूर हो गया।

———

गरुड़ध्वज

[हेलिओदोर (Heliodorus) तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिखित (Antialkidas) का विदिशा के शासक के पास भेजा गया दूत था। वह परम वैष्णव था जो विदिशा (भिल्सा) के समीप बेसनगर में आज भी खड़े गरुड़ध्वज से सिद्ध है। यह गरुड़ध्वज १४०-१३० ई० पू० के बीच कभी उसी ने खड़ा कराया था। अब केवल स्तम्भ रह गया है, गरुड़ की प्रतिमा नष्ट हो चुकी है। अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट है कि युवराज पहले वाइसराय की भाँति किसी प्रांत का शासन करते थे। उस वाइसराय को 'कुमार' कहते थे और उसके मंत्रिमंडल को 'मंत्रिपरिषत्', जैसा कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक से भी सिद्ध है। पहले विदिशा का शासक वसुमित्र का पिता अग्निमित्र था जो अब मर चुका था और उसकी जगह इस समय उसका भाई सुज्येष्ठ राज करता था। मौर्यों के साम्राज्य को 'विजित' कहते थे। समय १४०–१३० ई० पू०।]

२६-१०-४०] [प्रात: ५–८

१

हेलिओदोर वैष्णव यवनों के एक संभ्रान्त कुल का बालक था। उसका पिता तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिखित के पिता का एक सेनापति था। उसकी माता शाकल के विख्यात श्रेष्ठि की कन्या थी। मागन्धी ने अपने नम्र स्वभाव से धीरे धीरे अपने पति के परुष भावों को तरल बना दिया था। सेनापति की उद्दंड प्रकृति क्रमशः द्रवित हो गई थी।

हेलिओदोर माँ का अनुगामी था, शील-स्वभाव में, भक्ति-विश्वास में। उसके बालपन में ही जब माँ विष्णु की अर्चना में गीत गाती, वह तन्मय होकर सुनता। वासुदेव-कृष्ण का सच्चिदानन्द रूप उसके भावों में ओतप्रोत हो गया था। योग की चर्चा सुन वह समाधिस्थ हो जाता, भक्तों के कीर्तन से उसके नेत्रों से वारिधारा बह चलती।

धीरे धीरे हेलिओदोर बड़ा हुआ, युवा। महाभारत की कथा उसे बड़ी प्रिय लगती, ईलियद और आदेस्सी से आकर्षक। अर्जुन का विक्रम और कृष्ण का कर्म-कौशल उसे चकित करते,

कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करते। बालपन में उसके माता-पिता उसे जटिलों और श्रमणों से छिपाते रहे। उन्हें भय था कहीं वह भी संन्यस्त न हो जाय।

परन्तु हेलिओदोर के विचार वासुदेव-कृष्ण के उपदेशों के अनुरूप ढल रहे थे। वह विश्वबन्धुत्व के पाठ पढ़ रहा था—शुनि और श्वपच, ब्राह्मण, गो और गज सबमें एक आत्मा देखने का। संन्यास उसे अकर्मण्यता-सा प्रतीत हुआ। उसके आचरण-व्यवहार अन्य प्रकार के थे।

शक्ति और मति के प्रभाव से वह अन्तलिखित का विश्वासपात्र बना। उसके मंत्रियों में हेलिओदोर की भी गणना होने लगी। राज-कार्य से जब छुट्टी मिलती, वह वासुदेव-भजन में लीन हो जाता। उसकी ख्याति देश-विदेश में हो चली। वैष्णवों का उसके द्वार पर ताँता-सा लग चला। सबके लिए उसका द्वार खुला था, उसके हृदय की ही भाँति। मानवता का वह मित्र था। महात्त्वाकांक्षा की विजयों के लिए उसके पास साधुवाद न था, परन्तु अपनी स्वतंत्रता का वह महान् रक्षक था। अन्य देशों के लोग भी अपनी सीमाएँ निधारित करने के निमित्त हेलिओदोर को निमंत्रित करते।

२

पाटलिपुत्र के सिंहासन पर इस समय सुज्येष्ठ विराजमान था। अग्निमित्र के बाद मगध का सम्राट् उसका भाई हुआ और उसका

युवराज वसुमित्र विदिशा का स्वामी था, मगध के दक्षिणी प्रान्तों का गोप्ता।

तक्षशिला के यवनराज्य और मगध-साम्राज्य की सीमाओं में कुछ विवाद खड़ा हो गया था। यवनों ने मथुरा की ओर शुंग सीमा पर कुछ मागध नागरिकों को अपमानित किया था। मगध-सम्राट् तक्षशिला से क्षुद्र राज्य के निवासियों का यह दृप्त आचरण देख चिढ़ गया। उसने अन्तलिखित को कहला भेजा—"धनुर्धर वसुमित्र के बाणों के व्रण यदि सिन्धुतीर के यवनों को विस्मृत हो चुके हों तो युवराज फिर भेजा जाय। शक्ति की टक्कर यदि तक्ष-शिला के यवन लेना चाहते हैं तो समीप के ही आयुधजीवी यौधेयों और मालवों से क्यों नहीं लेते? मगध से क्यों उलझते हैं? मगध साम्राज्येतर शक्तियों से युद्ध नहीं ठानता।"

यवनराज के साहसी सेनापति युद्ध की संभावना से प्रसन्न हो उछल पड़े। अन्तलिखित ने भी मगध-सम्राट् के संदेश को दृप्त कहा। परन्तु यवनों के क्रोध की उठती आँधी को हेलिओदोर ने शान्त कर दिया। उसने उन्हें सुझाया कि जब पश्चिमोत्तर में विप्लवों की बाढ़ आ रही है, शकों की आँधी उठ रही है उस समय शक्ति की सीमा मागधों से उलझना मूर्खता है। उसकी बुद्धि-भरी बातों ने सब पर प्रभाव डाला।

हेलिओदोर ने मगधराज से सन्धि कर लेने का प्रस्ताव किया। उसके शब्दों में विश्वास होता और उस विश्वास से शक्ति का प्रादुर्भाव होता। उसके प्रतिद्वन्द्वी भी उसकी दूरदर्शिता के कायल

थे और कम से कम जब वह राजसभा में बोलने लगता उसके शब्द वह चमत्कार उत्पन्न करते जिसके समक्ष विपक्षियों का खड़ा रहना कठिन हो जाता। जब उसने सन्धि की चर्चा चलाई, लोगों ने उसकी सार्थकता समझी। स्वयं अन्तलिखित ने उसकी नीति की सराहना की और उसने मगध के सम्राट् के समीप हेलिओदोर को ही दूत बनाकर भेजना निश्चित किया।

३

हेलिओदोर ने पाटलिपुत्र न जाकर विदिशा जाना ही निश्चित किया। सुज्येष्ठ की उद्दंड प्रकृति से उसे विशेष आशा न थी परन्तु वसुमित्र के सुष्ठु स्वभाव से वह परिचित था। एक युग पूर्व उस विकट धनुर्धर की शक्ति उसने जानी थी। स्वयं उसका पिता उस महासमर में लड़ा था जिसमें वसुमित्र ने सिन्धु के तट पर यवनों का घोर पराभव कर पितामह के अश्वमेध का तुरग उनसे छीनकर लौटा लिया था। वसुमित्र के शौर्य और शील से परिचित हेलिओदोर को उसकी नीति की दूरदर्शिता पर भी विश्वास था। वह विदिशा को चला।

× × × ×

विदिशा की राजसभा में वसुमित्र सिंहासन पर बैठा मंत्रियों के साथ सातवाहनों की नीति की आलोचना कर रहा था। मंत्रि-परिषत् और उसके विचारों में एकता हो गई थी। इस कारण अब राजा और मंत्रिमंडल एकत्र रंध्रप्रहार की सुविधा पर विचार कर रहे थे।

जब उसने यवनराज के दूत के आने की बात सुनी तो झट उसे उपस्थित करने का आदेश किया।

हेलिओदोर के प्रवेश करते ही मंत्रियों ने अवकाश ग्रहण किया और शीलाचार के उपरांत जब यवन-दूत उच्चासन पर बैठा तब वसुमित्र ने उसके आगमन की बात पूछी।

उसने कहा—परम वैष्णव हेलिओदोर, आपके पत्र से कुछ आतुरता प्रतीत हुई थी इसी से मंत्री ने आपसे विश्राम के अर्थ कुछ न कहा होगा। अब आप बताएँ कि हमारी बातें अभी होंगी अथवा विश्रामानन्तर ?

दूत बोला—देव, विदिशेश्वर का वैदेशिक विभाग अतिथि की सुविधाओं के प्रति विशेष सतर्क है। देव की अभिलाषा मुझे कई दिन पूर्व विदिशा की सीमा में प्रवेश करते ही ज्ञात हो गई थी फिर भी मुझसे विश्राम करने का आग्रह किया गया परन्तु जैसा मैंने अपने पत्र में लिखा था, कार्य इस प्रकार का है कि उसमें विलंब होना अत्यंत अहितकर होगा। मैं पहले अपने आगमन के विषय पर बात कर लेना चाहूँगा, परन्तु मैं देव के प्रसाद का अनुसरण करूँगा।

"भागवत हेलिओदोर, यदि तक्षशिला से निरन्तर यात्रा करते यवन-दूत को विश्राम करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती तो क्या विश्राम-रहित लोकतन्त्र की अधिकाररज्जु धारण करनेवाले 'कुमार' को उसकी विशेष आवश्यकता है ? शुंग-साम्राज्य के प्रांत-शासक अपने कर्तव्य-पालन में जागरूक रहते हैं, हेलिओदोर।" विदिशेश्वर ने कुछ मुसकराते हुए कहा।

"शुंग-साम्राज्य के प्रांत-शासक यदि अपने कर्त्तव्य-पालन में विशेष जागरूक न होते, देव, तो इस भजन-प्रेमी हेलिओदोर को इतनी लम्बी यात्रा करने की आवश्यकता न होती। इस शासन-सतर्कता के फल-स्वरूप ही मेरा यहाँ आना हुआ है, देव।" हेलिओदोर बोला।

"फिर कहो, यवन-सचिव, क्या है तुम्हारा दौत्य?" प्रखर-बुद्धि वसुमित्र ने हेलिओदोर के वक्तव्य से ही उसके दौत्य का आशय आँक लिया था।

"देव, मैं आया हूँ यवनराज की ओर से संधि का प्रस्ताव लेकर।" हेलिओदोर ने कुछ गंभीर होकर कहा।

"तब तो यवन-दूत का पाटलिपुत्र जाना अधिक युक्ति-युक्त होता।"

"निस्सन्देह, देव। परन्तु सागर की उठती लहरों को सामने से न ललकारकर पार्श्व में लेना अधिक श्रेयस्कर होता है। इसी अर्थ इस सन्धि का विषय व्यक्तिगत बना मैं स्वयं आया और पाटलिपुत्र से दूर, इस ओर।"

"वासुदेव आपको आपके दौत्य में सफल करें यवन-सचिव।" वसुमित्र हेलिओदोर की ओर देखने लगा।

हेलिओदोर बोला—देव, मगध-साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा पर कुछ मागध नागरिकों के प्रति अन्याय हुआ है।

हेलिओदोर कुछ रुका।

"कहते चलो, दूत। मगध-सम्राट् के उस अपमान का स्मरण यवनराज से सख्य उत्पन्न न करेगा।" वसुमित्र को उसका रुकना खला।

हेलिओदोर ने फिर कहना प्रारम्भ किया—वह अन्याय मानवता के प्रति हुआ है इस अर्थ यवनराज लज्जित हैं, देव।

"मानवता के प्रति होनेवाले अन्यायों की परिगणना मगध के वैदेशिक विभाग में नहीं होती। मानवता के प्रति विश्व में अनेक, संख्यातीत, अन्याय होते हैं, हों, उनसे मगध-साम्राज्य का कोई सरोकार नहीं। अभी अभी बह्लीक के राजपरिवार में मानवता के प्रति घोर अन्याय हुआ है, तुम जानते हो परंतु उससे मगध-साम्राज्य का कोई हानि-लाभ नहीं। परंतु जब उसके लोकतन्त्र के अधिकारों की क्षति होती है वह सतर्क हो अपनी शक्तियों को सजग कर देता है। प्रस्तुत अन्याय मगध-नागरिकता के प्रति है और उसे मगध-साम्राज्य अपना भारी अपमान समझता है क्योंकि यह घटना सम्राट् के प्रजारंजक धर्म में विघ्न प्रतीत होती है।" वसुमित्र कुछ और गंभीर हो उठा।

हेलिओदोर कुछ और नत हो मधुर स्वर में बोला—देव का वक्तव्य यथार्थ है। यवनराज ने उसी के प्रतिकारार्थ मुझे विदिशेश्वर की सेवा में भेजा है।

"परन्तु क्या यह अन्याय इस प्रकार की प्रथम घटना है, हेलिओदोर?" वसुमित्र दूत की नम्रता से स्वयं कुछ विनम्र हो गया।

"नहीं, देव, इस प्रकार की यह प्रथम घटना नहीं है और इसी कारण यवनराज विशेष लज्जित हैं।"

"सो माना, परंतु इसके प्रतिकार-स्वरूप उनकी योजना क्या है?" वसुमित्र ने पूछा।

"वह यह कि इस अन्याय के प्रतिकार में उसके अनुरूप ही यवनराज आर्थिक क्षति उठाने को तत्पर हैं और उनका अनुरोध है कि इस प्रकार की जितनी घटनाएँ निकट पूर्व में हुई हों, उन सबकी क्षति वे स्वर्ण में पूर्ण करने को प्रस्तुत हैं।"

"ठीक है, यवनदूत, ठीक! परन्तु यवनों और भारतीयों की क्षतिपूर्ति के साधनों में विशेष अन्तर है। पाश्चात्य जिस अपमान की क्षति को अर्थ की संख्या में आँकते हैं पौरस्त्य उसको रक्त और मज्जा से मापते हैं। इस संतोलन में तो बड़ा वैषम्य है, हेलिओदोर। अच्छा होता यदि यवन अपना मानदंड अपनी विपणियों तक ही परिमित रखते।" वसुमित्र ने कुछ मुसकराते हुए यवनों के समाजाचार पर गहरा आघात किया।

हेलिओदोर ने वह आघात सहते हुए कहा—राजन्, देश-विशेष की विशिष्ट परिस्थितियाँ हैं, और उनके अनुरूप उनकी योजनाएँ भी। परन्तु उनसे क्या प्रयोजन? मैं एक सन्धि का प्रस्ताव लेकर आया हूँ, उसकी सार्थकता पर विचार अधिक न्याय-संगत होता।

"देखो, हेलिओदोर, न्याय की शिक्षा मगध-साम्राज्य के युव-राज को यवन-दूत से नहीं लेनी है। और रही सन्धि के प्रस्ताव

की बात, तो उसकी सार्थकता का विचार नहीं होगा। क्योंकि इस प्रकार का 'विचार' तक्षशिला-राज्य और मगध-साम्राज्य को समानभूमि पर ला उतारेगा।" कुछ सरोष वसुमित्र ने आपत्ति की।

"देव, दूत का उत्तर यदि उच्छृंखलता न समझा जाय तो मैं भी एक बात कहूँ?" हेलिओदोर की भृकुटी भी कुछ वक्र हो गई थी।

"बोलो, हेलिओदोर, मेरे सामने बोलने में तुम्हें कुछ भय न होना चाहिए।" वसुमित्र कुछ विनम्र हो बोला।

हेलिओदोर ने कुछ विनम्र होकर कहा—देव, भय की बात दूसरी है। ग्रीक 'भय' नहीं जानता। बाकी रही 'विचार' की बात। सो क्या तक्षशिला स्वतंत्र नहीं है? वह साम्राज्य का 'विजित' नहीं है इसलिए मेरी समझ में उसका साम्राज्य से समानता का व्यवहार उचित ही कहलाएगा।

वसुमित्र इस युक्ति से कुछ सहमा, परंतु यवनों के एक छोटे से राज्य का वह तर्क-वितर्क सहन नहीं कर सकता था।

उसने कहा—यवन दूत, तुम्हारा सौभाग्य है कि यह वक्तव्य सम्राट् के कानों से दूर है नहीं बहुत संभव था कि इसी समय मगधवाहिनी तक्षशिला को भी 'विजित' में मिला लेने को चल पड़ती।

हेलिओदोर कुछ कुढ़ गया। कहा—देव, सम्राट् के कानों से दूर रहने के अर्थ ही 'कुमार' के समक्ष उपस्थित हुआ हूँ। रही तक्षशिला को 'विजित' बनाने की बात, सो उसके संबंध में तो मेरा इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मगध-साम्राज्य के हाथ भी भले प्रकार बँधे हुए हैं। विशेषकर इसी दक्षिण-सीमा पर ही।

क्योंकि यवनराज को यह भले प्रकार विदित है कि विदर्भ को जीतकर उसे विजित द्वैराज्य घोषित कर दिया गया है, परन्तु जब तक मौर्य सचिव जीवित है मगध-साम्राज्य दक्षिण की ओर कान लगा श्वाननिद्रा से ही सोएगा। फिर उधर आंध्र सातवाहनों का समरकोलाहल उत्तर में भी पर्याप्त सुन पड़ता है। ऐसे समय में उत्तर की सीमा पर शांति स्थापित रखना साम्राज्य को हानिकारक नहीं सिद्ध होगा, देव!

भयंकर सत्य कह रहा था हेलिओदोर। वसुमित्र ने उसके एक एक शब्द का अर्थ समझा, एक एक व्यंग्य की चोट पहचानी।

उसने भी धीरे-धीरे कहा—और, हेलिओदोर, जिस समय तुम मगध-साम्राज्य के दक्षिण छोर पर आंध्र-सातवाहनों की आँधी की बात कहते हो तुम स्वयं उत्तर में झातनद की तलटी से उठती आँधी को भूल जाते हो।

"दरिद्र को अपना धन जाने का भय कम रहता है, देव। श्रीमान् ही विपत्ति में अपनी सत्ता के विनाश का रोना रोते हैं। यदि तक्षशिला उस आँधी में बह भी गया तो कोई बात नहीं क्योंकि उसका तुरंत या देर में उसकी चोट से विनष्ट हो जाना अनिवार्य है। उसे अपनी तो इतनी कुछ परवाह नहीं, परंतु वह आँधी यदि तक्षशिला का आधारबन्ध तोड़ कर इधर आई तो भला मगध की क्या गति होगी? तक्षशिला मगध-साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा का प्राचीर है, देव, उसे प्राचीर ही बना रहने दें।" एक एक शब्द की शक्ति आँकता हुआ-सा हेलिओदोर धीरे धीरे बोला।

वसुमित्र ने यवनदूत की मर्मभरी बातें सुनीं और उनकी अर्थ-भरी नीति को उसने पहचाना। दूसरा यदि कोई उसके पद पर होता तो साम्राज्य की मर्यादा के नाम पर आग उगलता और वह आग साम्राज्य को ही जलाकर भस्म कर डालती। परन्तु मगध के अद्भुत दूरदर्शी नीतिज्ञ ने हेलिओदोर की एक एक बात में सत्यता पाई और वह झट उसकी नीति स्वीकार करने को तत्पर हो गया।

उसने हँसते हुए कहा—अच्छा, वैष्णव, हमें इन झगड़ों से क्या काम? तुम भक्त हो, स्वयं देवता। मुझे तुम्हारी बात मानने में कोई आपत्ति नहीं और यदि, जैसा तुम कहते हो, यवन-राज का प्रस्ताव स्वीकार कर लेने से तक्षशिला और मगध-साम्राज्य दोनों का लाभ है तो मैं इसी क्षण उसे स्वीकार करता हूँ। और मेरा विश्वास है कि सम्राट् भी इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति न करेंगे।

हेलिओदोर ने विनीत हो मस्तक झुका लिया। उसने वसुमित्र की नीति-सत्वरता और कार्यचपलता देखी और वह उस पर मुग्ध हो गया।

उसने धीरे धीरे कहा—देव, फिर आशा करता हूँ पाटलिपुत्र मेरे जाने की आवश्यकता नहीं होगी।

"नहीं, कुछ भी नहीं। मैं स्वयं कल सम्राट् की सेवा में विशेष दूत भेजूँगा।" वसुमित्र ने सत्वर कहा।

कुछ रुककर वसुमित्र ने फिर कहा—हेलिओदोर, मैं समझता हूँ यवनराज का यह सन्धि-प्रस्ताव महत्त्व का है और बड़ा सुन्दर

हो यदि तुम्हारी दौत्य-योग्यता से संपन्न इस कार्य का स्मारक-स्वरूप एक कीर्तिस्तंभ खड़ा किया जाय।

विचक्षण यवन ने इस अद्भुत प्रस्ताव का अर्थ आँक लिया। उसने वसुमित्र की नीतिमत्ता मन ही मन सराही—क्यों नहीं, और उस कीर्तिस्तंभ पर लिखा जाय कि तक्षशिला ने मगध-साम्राज्य से अनुनय की। एक हलकी मुसकान उसके मुख पर झलक गई।

उसने प्रकट कहा—अवश्य, राजन्, अवश्य। परन्तु एक भिक्षा है, देव।

"कहो, हेलिओदोर, क्या है तुम्हारी इच्छा?"

"कि उस कीर्तिस्तंभ का वास्तु-विधान मेरे इच्छानुसार हो।"

अबकी वसुमित्र हँसा। दोनों ने एक दूसरे की नीतिप्रखरता देखी और भीतर ही भीतर एक ने दूसरे को सराहा।

वसुमित्र हार गया। उसने मुसकराते हुए कहा—मुझे स्वीकार है, यवन, वह भी स्वीकार है।

वसुमित्र ने उदारता की सीमा रख दी। यवन जीतकर भी हारा। वसुमित्र के समीप बढ़कर उसने उसके उत्तरीय का छोर घुटने टेककर चूम लिया।

× × × ×

वह विदिशा का स्तंभ न मगध-साम्राज्य के ऐश्वर्य का स्मारक हुआ, न यवनराज का कीर्तिस्तंभ, वरन् परम भागवत हेलिओदोर द्वारा प्रतिस्थापित वह वासुदेव विष्णु का गरुड़ध्वज हुआ।

———
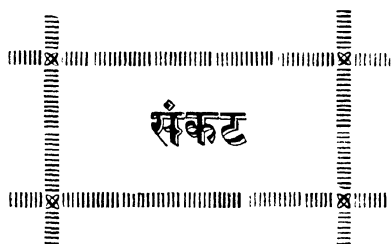
संकट

[ईसा से लगभग दो शताब्दियों पूर्व से ही भारत का व्यापारिक संबंध रोम से स्थापित हो गया था। इस संबंध का मार्ग सामुद्रिक था। ई० पू० प्रथम शताब्दी में जो भारत के व्यापार ने रोम के दीवाने विलासियों को आकृष्ट किया उसका ताँता ईसा से कई शताब्दियों बाद तक बना रहा। रोम की विजयों से उसके साम्राज्य में कितने ही बड़े बड़े देश प्रांतों की भाँति सम्मिलित हो गए—इँगलैंड से ईरान तक, मिस्र से कास्पियन सागर तक। इससे रोमियों के धनधान्य की अद्भुत वृद्धि हुई और उस समृद्धि का बहुत बड़ा भाग भारतवर्ष को मिलने लगा। यहाँ के हाथीदाँत के सामान, इत्र, मलमल, मोती और गरम मसालों के मुँहमाँगे दाम रोम में मिलने लगे। फलस्वरूप ईसा की प्रथम शताब्दी में प्रसिद्ध इतिहासकार, प्लिनी ने इसका प्रबल विरोध किया, साढ़े पाँच करोड़ के सोने के निर्यात का। परन्तु उसका रोना व्यर्थ गया। प्लिनी की 'नेचुरल हिस्ट्री' (Natural History) सन् ७७ ई० में प्रकाशित हुई। लगभग इसी समय की ग्रीक पुस्तक 'पेरिप्लस आव् दि एरिथ्रियन सी' (Periplus of the Erythrean Sea) में भी भारत से पाश्चात्य देशों के व्यापार-संबंध का विशद वर्णन है। लगभग प्रथम शताब्दी ई० पू० में कुछ भारतीय नाविक मार्ग भूल कर अफ्रीका की राह जर्मनी के तट पर पहुँच गए थे। फिर वहाँ से उन्हें रोम पहुँचाया गया। 'पात्रीशियन' रोम के विशिष्ट नागरिक थे और 'प्लेबियन' प्रांतों के अन्य नागरिक। रोम की विजयों के फलस्वरूप रोम में दासों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। समय ई० पू० प्रथम शताब्दी का अंतिम चरण।]

२७–१०–१९४०] [प्रातः ५–८

१

कल्ला के विशाल प्रासाद का कोना-कोना आलोकित था। अनेक झाड़ शत-शत कंडीलों से चमक रहे थे। मुख्य द्वार के मेहराब के बीचो-बीच छोटी-बड़ी सहस्र कंडीलों से सजा एक बृहत् झाड़ अपना प्रकाश दूर तक विस्तृत मैदान पर डाल रहा था। रजनी दिवस में परिवर्तित-सी हो गई थी। स्फटिक के झाड़ से जो आलोकपुंज निकल निकल बाहर पसरता उससे सामने के उपवन में बनी प्रतिमाएँ रह रहकर जगमगा उठतीं। इस हरे भरे उपवन में संगमरमर की अनेक विशाल मूर्तियाँ रोमकों की तक्षणकला और वास्तु-विज्ञान की कुशलता घोषित कर रही थीं। मुख्य द्वार के सम्मुख ही फव्वारे के पीछे खड़ी रोमुलस की विशालकाय मूर्ति थी। फिर एक ओर जूलियस सीजर की, दूसरी ओर उसके भतीजे वर्तमान सम्राट् आगस्टस सीजर की अश्वारोही प्रतिमाएँ अपने अपने तुरग को रानों से दबाए, ताम्र टोप और वर्म पहने, दाहिने कर में सेमिटर* और वाम हस्त में

* एक प्रकार की लंबी रोमक तलवार।

अश्वरज्जु लिए वेग से अश्व बढ़ाए उड़ी जा रही थीं। पीछे उपवन के बीच के फव्वारे पर दो दीर्घकाय नग्न पुरुष मल्लयुद्ध में लीन मूर्त थे। उनकी शिराएँ खिंची रज्जुओं की भाँति कंधों, भुजाओं और पिंडलियों पर चमक रही थीं। उपवन में अन्य अनेक फव्वारे नग्न मूर्त युवतियों के मुख से फूट रहे थे।

कल्ला का यह प्रासाद रोम की समृद्धि का एक विशद उदाहरण था। तब का रोम ख्याति और शक्ति में चरम सीमा को पहुँच चुका था। सीजर और आगस्टस की विजयों के फलस्वरूप रोम-साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर में आँग्ल और त्यूतन-जर्मनों को, दक्षिण में मिस्र के दक्षिणी छोर को, पूर्व में कास्पियन सागर, पार्थव राज्य और मकों को और पश्चिम में अतलांतक महासागर को छूती थीं। रोमक लीजियनों* की धमक दूर के पार्थव और मक राजाओं में भय का संचार करती थी। उनके गरुड़ध्वज की छाप अनेक स्वतंत्र पताकाओं पर पड़ रही थी और उनके प्रख्यात सेनापति पाम्पेई की ध्वंसलीला का स्मरण कर सारा बर्बर जगत् कराह उठता था। सीजर षड्यंत्रकारियों की कटार से स्वयं तो हत हो चुका था, परंतु उसकी बलवती स्फूर्ति आगस्टस की शक्ति में प्रतिबिंबित हो रही थी। आगस्टस के सेनापतियों के विजय से लौटने पर उनके रथों से बँधे दास अनंत संख्या में रोम में उमड़े पड़ते थे। उनकी शृंखला से रोम दिनरात प्रति-

---

* सेनाएँ।

ध्वनित होता रहता। उनके विशाल पोतों में सहस्रों डाँड़ चलते जिनकी मूठें लौह शिकंजों से जकड़े सहस्रों अभागे दासों के हाथों में होतीं। इनमें दरिद्र-श्रीमान्, छोटे-बड़े सभी समान गति से पिसते और उनके जीवन का मूल्य उन्हें मारनेवाले कोड़ों से कहीं घटकर होता।

रोम की रथ-धुरा में पिसकर बड़े बड़े साम्राज्य धूल हो गए। बड़े बड़े राज्य उसके करदायी प्रांत बन गए। अभी अभी भारतीयों के दूतमंडल ने रोम में आकर डेरा डाला था, अभी अभी चीन के सम्राट् ने वहाँ अपनी अमूल्य भेंटें भेजी थीं। रोम नगर आज भूमंडल का केंद्र हो रहा था और वह रोम-साम्राज्य का मध्यवर्ती सागर वास्तव में भूमध्यसागर था। संसार के व्यापार का रोम केंद्र था। यहीं विश्व के व्यवसायियों को मनोवांछित मूल्य मिलता था। भारत यहाँ से प्रतिवर्ष साढ़े पाँच करोड़ रुपए का सोना खींचता था—मसालों, मोतियों, मलमल, वैदूर्य, हाथीदाँत की वस्तुओं के बदले। रोम में ही पात्रीशियन और प्लेबियन मिलते थे।

विश्व-विलास का केंद्र था रोम, शक्ति का मानदंड। और कल्ला का यह प्रासाद था रोम के श्रीमानों का अड्डा। कल्ला स्वयं सीजर के हंता प्रमुख षड्यंत्रकारी कैसियस का पुत्र था और कला की योग्यता में सारे रोम में उसका कोई प्रतिस्पर्धी न था। वह रोम के विलासी छैलों का लाड़ला बंधु था। विलासी मित्रों के स्वागत में धन वह पानी की भाँति बहाता

और अपने अनेक व्यक्तिगत गुणों के कारण वह स्वयं रोम की सुंदरियों का मनोवांछित रहस्य हो गया था। आज उसका विजयी मित्र टाइटस पूर्व से लौटा था और उसके स्वागत में कल्ला का ऋद्ध भवन मुसकरा रहा था। कल्ला ने अपने मित्र के स्वागत में बृहत् भोज दिया था। उसका प्रासाद दासों के आवागमन से, अतिथियों के हास-परिहास और संगीत की ध्वनि से गूँज रहा था, और उसकी रसोई भारती मसालों की गंध से गमक रही थी।

प्रासाद के अतिथि-कक्ष में अट्टहासों के स्रोत फूट रहे थे। रोम के युवा रसिक, श्रीमानों के वंशधर अपनी सुंदरी सखियों से खेलते टाइटस के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। भारतीय मलमल के बने लंबे वस्त्र उनके शक्ति-परिचायक अंगों को झलका रहे थे। और वे कंदर्पमद से प्रमत्त नारियाँ छबि और प्रसाधन में रति कोलज्जित करती थीं। बंग के बने 'मकड़ी के जालों'-से उनके वस्त्र कठिनता से देखे जा सकते थे। उनके भीतर से सुंदरियों की छबि छन छनकर निकल रही थी। उन नितांत पतले वस्त्रों से मंडित उन विलासिनियों की कमनीय कांति शीशे के भीतर बलती दीपशिखा सी प्रतीत होती थी और उन दीप-शिखाओं पर रोम के श्रीमानों के ये विलासी तनय शलभों की भाँति टूट रहे थे।

उन विलासिनियों की छवि भी वास्तव में बड़ी मादक थी। नागिनों-सी उनकी बनी वेणियाँ घूम घूमकर पीछे की चूड़ा में खो

गई थीं और उन पर से गिरती मलमल की झीनी ओढ़नियाँ उनके केशपरिवेष्ठनों की मुक्तामंडित मध्य लड़ियों को झलका रही थीं। मोतियों से उनका सारा मंडन हुआ था। केशों का सीमांत शुभ्र मोतियों की एकावली से दमक रहा था। सामने का किरीट उन्हीं की ज्योति से उद्भासित था। किरीट के बीचो-बीच बड़ा हीरक चमक रहा था। करों में मोतियों के वलय कसे थे और अँगुलियों में हीरकों की मुद्रिकाएँ शोभती थीं। वक्ष पर छोटे-बड़े मोतियों के अनेक हार खेलते थे और नीचे उपानहों में उन्हीं की अनेक लड़ियाँ दौड़ती थीं।

कल्ला ने जब हँसते हुए अपने व्यस्त प्रासाद के उस कक्ष में प्रवेश किया, सुंदरियाँ जैसे उसकी ओर दौड़ पड़ीं। उसने उनके निष्प्रभ पतियों की उपस्थिति में प्रत्येक बढ़े कर को चूम लिया।

फिर आनंद का स्रोत बह चला। कल्ला के परिहास की एक एक छींट से लोग उछलने लगे, रमणियाँ बेबस होने लगीं। पिछली रात के आमोदों के प्रसंग छिड़े, विलास के भारतीय उपकरणों के क्रय की बात छिड़ी, दासों की अपरिमित संख्या से जनित उपद्रवों पर वाद-विवाद छिड़ा। सबका रोना एक था, सबके अनुभव समान थे।

केटर ने पूछा—कल्ला, तुमने सुना है कि कला-विरोधियों ने भारत से व्यापार बन्द करने के लिए सिनेट में एक प्रस्ताव लाने का प्रबंध किया है?

भारत का व्यवसाय रोम में अटूट था। अनंत धन प्रति-वर्ष रोम से उसके विलास के मूल्य में भारत की ओर बह जाता था। रोम के कुछ नागरिकों ने इस क्षति से देश के धन की रक्षा के अर्थ एक आंदोलन खड़ा किया था। इस आंदोलन के सदस्यों को कल्ला का विलासी समुदाय कला-विरोधी कहता था। इसमें कुछ शक्ति न थी क्योंकि रोम के रसिक युवक-युवती मंडन-लालित्य का लोभ संवरण न कर सकते थे और उसमें भारतीय उपकरणों का प्राधान्य था। इस कारण रोम की विशिष्ट जनता और सिनेट के प्रमुख सदस्य भारतीय वाणिज्य के साथ सहानुभूति रखते थे। सीजर के समय से ही सिनेट की शक्ति टूट चली थी और स्वयं आगस्टस के प्रासाद भारतीय वाणिज्य की अटूट संपत्ति से सजे थे।

कल्ला ने केटर का कुछ उत्तर न दिया। केटर के गांभीर्य और कल्ला की अवहेलनापूर्ण शीतलता पर जो लोग हँस पड़े उनमें केटर की स्त्री प्रथम थी। केटर कुछ रुष्ट-सा हो चला। कल्ला ने परिस्थिति सँभालते हुए कुछ सस्वर कहा—केटर, जब तक सिनेट का विशिष्ट वक्ता सिनेका जीवित है, कला के आदर्शों के विरुद्ध रोमकों के सिनेट में कोई आवाज नहीं उठा सकता।

सिनेका से चित्रा की वाग्दत्ता थीबिया एक ओर प्रणय-कलह में उलझ रही थी। वह उसके दक्षिण कुंडल का मोती उसके केशों से पृथक् कर रहा था। थीबिया रोम के विख्यात कुल पांपेई की एक-मात्र उत्तराधिकारिणी थी, सुंदरी, मनस्विनी, आकर्षण का केंद्र।

स्वयं कल्ला उस पर मुग्ध था और टाइटस की सुंदरी पत्नी सोफिया की अनुपस्थिति में उसकी दृष्टि थीबिया पर ही पड़ती।

सिनेका का प्रणय-कौतुक वह कुछ देर से देख रहा था परंतु उसे किसी प्रकार अवसर न मिलता था कि वह उसे अपनी सीमा के प्रति सावधान करे। अब केटर के प्रश्न से उसे अवसर मिला। सिनेका कल्ला के वक्तव्य से कुछ झिझका और अपनी सीमाओं के प्रति सावधान हो उसने धीरे धीरे कहा—केटर, उस आंदोलन में कुछ बल नहीं रह गया है।

थीबिया अब तक सुंदरियों के परिवार से आ मिली थी।

× × × ×

बाहर राजमार्ग पर कुछ दूर सामरिक बिगुल की ध्वनि हुई। प्रासाद के सभी प्राणी दौड़कर राजमार्ग पर खुलनेवाली खिड़कियों पर जा खड़े हुए। सामने, सभी प्रासादों के अट्ट मुखाकृतियों से भर रहे थे।

धीरे धीरे चार तुरंगोंवाला टाइटस का लंबा रथ दिखाई पड़ा। उसके आगे-पीछे, दाहिने-बाएँ ऊँचे रोमक टोप पहने अश्वारोही शरीररक्षक भाले चमकाते चले आ रहे थे। विजयी के वाम पार्श्व में महीन अवगुंठन से आवृत रोम के विलास का प्राण सोफिया बैठी थी। उसकी प्रसन्न मुखचेष्टा उसकी शुभ्र दन्तपंक्ति से झलक रही थी जिसे वह भारतीय श्वेतपट कठिनता से छिपा सकता था। टाइटस सामरिक वेश में ही आया। कटि पर्यंत उसका सारा शरीर ताम्र वर्म से आच्छादित था।

कल्ला ने अपने मित्र परिवार के साथ विजयी टाइटस को उतारा फिर उसने उसकी पत्नी के कर चूमे। जब कल्ला ने टाइटस का कर-मर्दन करने के लिए हाथ बढ़ाया, विजयी ने उसे खींचकर गले से लगा लिया। अतिथिगृह में प्रवेश करते ही विजयी के प्रति बधाइयों के शब्द गूँज उठे। एक एक सुन्दरी उस पर टूट-सी पड़ी। टाइटस ने थीबिया को विशेष प्रेम से भेंटा। देर तक उसने उसके कर चूमे।

× × × ×

स्वागत-भोज चल रहा था। सोफिया और टाइटस के बीच उनका प्यारा कल्ला बैठा था। टाइटस की बाईं ओर थीबिया थी और उसकी बाईं ओर उसका वाग्दत्त अभागा चिन्ना रह रहकर लम्बी साँसें लेता, क्रुद्ध-सा इधर-उधर देखता था। अन्य अतिथि स्वर्ण की कुर्सियों पर रजत की प्रशस्त मेज के चतुर्दिक् बैठे थे।

भोजन चल रहा था, कहकहे लग रहे थे, हँसी के स्रोत फूट रहे थे बहती आसवधारा के साथ। भारत के दक्षिणापथ के एला-लवंग अन्य मसालों को सुगंधित कर रहे थे और कश्मीरी कुंकुम और हिमालय की मृगनाभि उसकी प्रचुरता अपनी मादकता से बढ़ा रहे थे। अनेक दास-दासी स्वर्ण थालों में भोजन लिए आ जा रहे थे। रत्नजटित ऊँचे क्षीणकटिवाले मधुपात्रों से रक्त स्फटिक के चषकों में मदिराएँ ढल रही थीं—रोम के दाखों की, पोर्तुगल की, यवन-मिस्र की, ईरान की।

भोजन समाप्त होते समय जब टाइटस ने कहा—उसी अमित पोत में जिसके आगमन का रोम छः मासों से आसरा देख रहा है ताम्रपर्णी का प्रख्यात 'शुभ्रकान्त' मोती आ रहा है—तब सोफिया ने कल्ला की ओर देखा और थोबिया ने टाइटस की ओर। कल्ला ने उत्तर में अपनी अर्थव्यंजक दृष्टि सोफिया पर डाली और टाइटस ने थीबिया पर। चिन्ना का स्फटिक चषक नीचे गिरकर चूर चूर हो गया।

थोड़ी देर बाद जब प्रासाद के एक ओर टाइटस थीबिया को अपने सबल अंक में कसे उसे वैदूर्य की अभिषिक्त-लक्ष्मी की मुक्ता-खचित प्रतिमा प्रदान कर रहा था, ठीक तभी दूसरी ओर कल्ला सोफिया को हृदय से लगाए भारत से पोत पहुँचने पर विख्यात 'शुभ्रकान्त' मोती उसको स्त्रीत्व के मूल्य में भेंट करने की उससे प्रतिज्ञा कर रहा था।

२

ताम्रलिप्ति का पत्तन समुद्रगामी पोतों से भरा था। विदेश जानेवाले पोतों में विशेष चहल-पहल थी। वाणिज्य की सामग्री से वे भरे जा रहे थे। मिस्र, रोम, ईरान, चीन और द्वीप-समूहों से आए पोत अपना माल उतार रहे थे, जानेवाले माल भर रहे थे। इन बाहर जानेवाले विशाल पोतों में एक पोत बंग के पण्यपति वसुबन्धु का भी था। उस पोत की संज्ञा थी 'सागरक'।

सागरक बृहत् पोत था। उसमें दो सौ डाँड़ लगते थे। दो सौ दास उन डाँड़ों को खेते थे। ऊपर से पचास नाविक पालों, मस्तूलों और उनकी रज्जुओं की देखरेख में नियुक्त रहते। पोत की वस्तुओं की रक्षा के अर्थ दो सौ सैनिक सागरक में सवार होते। सागरक के दोनों पार्श्व में एक एक और पोत पाँच पाँच सौ सैनिकों के साथ जलदस्युओं की हिंस्रिकाओं से उसकी रक्षा के निमित्त चलते।

सागरक एक सप्ताह से अपने तलों में माल भर रहा था। दूसरे सप्ताह में वह माल भरकर तैयार हो गया। सारे पूर्वी एशिया की विक्रय-सामग्री उसके तलों में भरी गई—पारस के अजिनरत्न और द्राक्षासव, बह्लीक के कुंकुम और गोमेद, गन्धार-कम्बोज के मेवे और ऊर्णा, कश्मीर के कुंकुम-केसर और शाल, चीन के क्षौम अंशुक और लेखन-सामग्री, हिमालय के चमर और मृगनाभि, मध्यदेश की प्रतिमाएँ, झाड़खंड का वैदूर्य, यमुना के कच्छप-पृष्ठ, बंग के महीन मलमल, कलिंग के गज-दन्त, विदर्भ की कपास की रुई के बने वस्त्र। फिर चला वह सागरक सागर के वक्ष पर उछलता-कूदता अपने पार्श्ववर्ती रक्षक पोतों—'मोचक' और 'प्रहारक'—पर बजते रणवाद्यों के बीच।

कई दिनों तक अनुकूल वायु के सहारे चलने के बाद उसने सिंहल और पांड्य के पत्तनों से वाणिज्य-सामग्री भरी—मलय के चंदन और मलयस्थली के मसाले—एला, लवंग, मरिच—और ताम्रपर्णी के शंख और अमूल्य अनेक मोती। यहीं

ताम्रपर्णी के सागरसंगम पर उपलब्ध विख्यात 'शुभ्रकांत' मोती वसुबन्धु ने खरीदा जिसकी चर्चा विदेशों में हो चली थी। फिर सागरक उत्तरापथ और दक्षिणापथ की संधि पर खड़ी विशाला उज्जयिनी से आनेवाली वाणिज्य-सामग्री के अर्थ कल्याणी और शूर्पारक की ओर बढ़ा। प्रशांत सागर के वक्ष पर बिछलता, अनुकूल पवन के सहारे।

× × × ×

शूर्पारक से दो दिनों की यात्रा के बाद सागर में बवंडर उठा। आरंभ में आँधी का वेग कम था। इस प्रकार की आँधियों का अभ्यस्त था सागरक। उसने प्रभंजन की कुछ चिंता न की। वह पूर्ववत् वेग से पश्चिम दिशा की ओर बढ़ चला। परंतु कहाँ थी वह पश्चिम दिशा?

मेघ मँडराने लगे और प्रातः जब वसुबन्धु के नेत्र खुले, उसके नाविकाध्यक्ष ने उसे मेघों का वह संघट्ट दिखाया, जिससे सारा आकाशमंडल आच्छन्न हो गया था। वसुबन्धु के ललाट पर चिंता की गहरी रेखाएँ दौड़ गईं।

उसने अध्यक्ष से पूछा—अब क्या होगा, सिंहलक?

"कुछ नहीं, स्वामिन्, आशा है सब ठीक हो जाएगा। मोचक और प्रहारक को दूर दूर चलने को कह देता हूँ।" सिंहलक बोला।

वसुबन्धु पोत के अग्रभाग पर गया फिर गरजते सागर और तड़पते मेघों का युद्ध देख वह अपने शयन-गर्भ में प्रविष्ट हुआ। सिंहलक ने मोचक और प्रहारक रक्षकपोतों को दूर दूर

रहकर चलने और थोड़ी थोड़ी देर पर वाद्य से सूचना देने को कह दिया।

दिन भर सागरक सागर की उत्ताल तरंगों से लड़ता हुआ बढ़ता रहा। परंतु उसका दिशाओं का अनुमान ठीक न रह सका। फिर भी वह बढ़ चला। वसुबन्धु कभी उसके अग्रभाग पर, कभी कर्ण पर, कभी कूपदंड के नीचे दिन भर फिरता रहा। अनन्त संपत्ति के स्वामी पद्मपति वसुबन्धु का अगाध धन इस पोत में भरा था और उस सम्पूर्ण धन के बराबर उसके पास इस समय संसार का वह अमूल्य शुभ्रकांत मोती था, जिसका आसरा विश्ववाणिज्य का केंद्र ऋद्ध रोम देख रहा था, जिसके क्रय के निमित्त वहाँ के श्रीमान् परस्पर उलझ रहे थे, बाजियाँ लगा रहे थे, ऋण ले रहे थे। वसुबन्धु की चिंता सार्थक थी और उसका चिर सखा सिंहलक उसके दुख-सुख का साथी था—समानधर्मा, सहानुभवी। वसुबन्धु तो थककर जब कभी शयनगर्भ में भी जा घुसता परंतु सिंहलक को क्षणभर भी शांति न थी। रात्रिंदिव वह पोत पर इस ओर से उस ओर दौड़ता नाविकों को आदेश देता रहता। जब सन्ध्या हुई और समुद्र का गर्जन और भी गंभीर हो चला, वसुबन्धु अपने शयन-गर्भ में फिर जा घुसा। मोचक और प्रहारक की वाद्य-ध्वनि थोड़ी-थोड़ी दूर पर रह रहकर सुन पड़ती थी। वसुबन्धु ने खिड़की से एक बार बाहर देखा फिर वरुणदेव को कर जोड़ भविष्य को दैव पर छोड़ वह पर्यंक पर जा लेटा। धीरे धीरे चिंता के भार से दबी

उसकी आँखें दुखतीं दुखतीं लग गईं, उस घहराते सिंधु के ऊपर।

प्रात: जब सिंहलक ने वसुबन्धु को जगाया, वसुमित्र ने कहा—मैं क्या कर सकता हूँ, सिंहलक? धन मेरा है परंतु यदि वरुणदेव उसे स्वीकार करना चाहें तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है? पर जीवन का मूल्य अधिक है। संसार की सारी संपत्ति भी मानवरक्त की एक बूँद का मूल्य नहीं हो सकती। इन प्राणियों की रक्षा का यदि कोई प्रबंध सोच सको तो सोचो। मोचक और प्रहारक साथ साथ चल रहे हैं न?

वसुबन्धु ने 'शुभ्रकांत' को रात्रि में ही अपने हृदय के पास रख लिया था। उसने उसे अब और कस लिया।

सिंहलक ने ठंढी साँस भरकर धीरे धीरे कहा—स्वामिन्, मोचक और प्रहारक की वाद्यध्वनि निशीथ में ही झंझावात में विलुप्त हो गई।

वसुबन्धु की भृकुटियों में विशेष बल पड़ गए। सिंहलक के कंधे पर हाथ रखे वह बाहर आया कूपदंड के नीचे। आकाश और सागर के प्राचीर क्षितिज में खो गए थे और स्वयं क्षितिज सागर की उठती तरंगों की ओट हो गया था। चारों ओर मेघों की श्यामता से अंधकार छाया हुआ था और कई दिनों से कुपित इन्द्र गरज गरज बरस रहा था, विद्युत् चमक रही थी। उस विद्युत् के प्रकाश में तरंगों के ऊपर उठते रंध्रों से जलस्रोत फेंकते विशालाकार तिमियों के मुखविवर क्षण भर के

लिए दिखाई देते फिर अंधकार में विलीन हो जाते। अनेक मातंग-नक्र, सागर-भुजंग, जल-बाजि और विविध मत्स्य यकायक वेग से उछलते, लहरों पर लोट लोट उलटते, फिर सागर के उदर में पैठ जाते।

इन विशाल, भयानक जन्तुओं को देख वसुबन्धु का हृदय बैठ चला। मोचक और प्रहारक का अंत सोच वसुबन्धु काँप उठा। सागरक के आरोहियों के भीमकाय सामुद्रिक जीवों के उदर में पैठने की कल्पना कर गिरते हुए उसने धीरे धीरे भराई वाणी में सिंहलक से अनुनय की—सिंहलक, आज इन अभागों की किसी प्रकार रक्षा कर। वसुबन्धु तुझे अपनी सारी संपत्ति दे देगा।

सिंहलक ने वसुबन्धु को अपनी बाहुओं में सँभालते हुए हृदय से कसते हुए कहा—स्वामिन्, यदि ये लहरें मनुष्य की आज्ञा मानतीं तो फिर क्या कहना था। प्रकृति शासन नहीं मानती, शासक की आज्ञाएँ उसके सम्मुख कुंठित हो जाती हैं।

सिंहलक ने अपनी भींगी आँखें पोंछ लीं, फिर उसने प्रमुख नाविक को संकेत से बुलाया। चारों ओर 'वरुण' 'वरुण' की पुकार मची थी।

"मत्स्यक, स्वामी को शयनगर्भ में भेज दो। दो प्रहरी सदा उनके पर्यंक के समीप रहें। वे बाहर न जाने पाएँ। उनका मस्तिष्क आज ठिकाने नहीं है। और देखो, पोत-दंड उखड़े जाते हैं। यदि कहीं एक साथ उखड़ गए तो पालों के वेग से पोत

समुद्र के उदर में यकायक उलट कर पैठ जाएगा—पालों को खोल दो, सागरक को सागर की दया पर छोड़ दो।"

सिंहलक वसुबन्धु को मत्स्यक के करों में छोड़ स्वयं सागरक के कर्ण पर जा बैठा। पाल खुल गए। पोत-दंड नंगे खड़े थे, उनकी रज्जुओं के छोर सिंहलक के चरणों में मोटे पत्थरों से बँधे पड़े थे।

चौथे दिन आँधी थमी, परंतु कुछ जल बरसता ही रहा। वसुबन्धु भी आशा से हृदय भरे सिंहलक के समीप कर्ण पर बैठा रहता। आठवें दिन मेघ छँटे, सूर्य चमका, दुर्बल किरणों के साथ। मोचक और प्रहारक न दिखाई पड़े। वसुबन्धु ने आँसू भरे नेत्रों से सिंहलक की ओर देखा परंतु पूछा कुछ नहीं। उसने उनको नियति पर छोड़ दिया। सिंहलक दूर पूर्व क्षितिज की ओर निर्निमेष देख रहा था।

जब प्रमुख-नाविक की छाया कर्ण के पार्श्व पर पड़ी, सिंहलक न उसे देखा। उसने उससे पूछा—मत्स्यक, कहाँ हो ?

"यही पूछने चला था, स्वामिन्।" मत्स्यक बोला।

वसुबन्धु ने सिंहलक की ओर कुछ घबराहट से देखा।

सिंहलक ने मत्स्यक से फिर पूछा—मत्स्यक, खाद्य-सामग्री प्रचुर मात्रा में है न ?

"प्रचुर, स्वामिन्, छः मास पर्यंत की।" मत्स्यक कुछ प्रसन्न-सा बोला।

वसुबन्धु की ओर देखते हुए सिंहलक ने कहा—अब कुछ चिन्ता नहीं, स्वामिन्, यदि फिर झंझावात न उठा तो कभी न कभी किसी न किसी तट पर जा ही लगेंगे। पर हाँ अब कदाचित् मोचक और प्रहारक की आशा छोड़ देनी होगी।

वसुबन्धु के प्रसन्न वदन पर चिन्ता की छाया दौड़ पड़ी।

× × × ×

महीनों बाद तट दिखाई पड़ा। आनन्द की लहर सागरक के प्राणियों में बह चली। वसुबन्धु दौड़ दौड़कर कभी कर्ण पर कभी भ्रूभाग पर जाने लगा। किसी को ज्ञात नहीं—कहाँ पहुँचे। परन्तु मार्गस्थ हो जाने से जान में जान आई।

'तट दीखा', 'तट दीखा' की ध्वनि से सागरक के काष्ठ-प्रकोष्ठ गूँज उठे। वरुण को जन जन धन्यवाद देने लगा, वसुबन्धु ने दौड़कर सिंहलक को बाहुपाश में कस लिया।

लगभग एक प्रहर के बाद सागरक तट के समीप पहुँचा। दूर से ही भल्लधारी श्वेत नरों की एक खड़ी पंक्ति दिखाई पड़ी। वसुबन्धु-सिंहलक के आगे यवन-दुभाषिया मगलक खड़ा था।

मगलक सहसा बोल उठा—पोत शीघ्रता से सागर की ओर घुमा दो। तट पर शत्रु हैं, शीघ्र आक्रमण करेंगे।

मगलक ने फिर बताया कि उनका पोत फ्रैंकों के उत्तर में आंग्ल और त्यूतनों के बीच जा पहुँचा था। परन्तु अब कोई डर की बात नहीं थी।

सागरक का मुख लौट पड़ा—स्पेन की ओर। सागरक अतलांतक में था और उसका रोम में पहुँचना अब केवल सप्ताहों की बात थी। सागरक में उत्सव होने लगे।

३

रोम के बन्दर में सागरक खड़ा था, थका। वसुबन्धु और सिहलक रोमक करोड़पतियों से सागरक के एक कक्ष में वाणिज्य संबंधी तोल-मोल कर रहे थे। भ्रान्त पोत के लौटने पर उसके संकट का हाल सबको ज्ञात हो चुका था। लोग उसकी रक्षा की कथा सुनने को टूटे पड़ते थे। बन्दर में जैसे सारा रोम उबल पड़ा था। अंग से अंग छिलता था। इसी सागरक में विश्व-विख्यात 'शुभ्रकान्त' मोती भारत से आया था। रोम के नर-नारी, बाल-वृद्ध उसकी प्रभा का दर्शन करने को लालायित थे, उमड़े पड़ते थे। बीच बीच में रोमक सैनिक ऊँचे चमकते टोप पहने बर्छे हाथ में लिए आ जा रहे थे।

यकायक रोम के विख्यात नागरिक कल्ला और टाइटस दिखाई पड़े। टाइटस सैनिक वेश में था, कल्ला संभ्रान्त नागरिक वेश में। दोनों परस्पर कर में कर डाले तट से पोत की सीढ़ियों पर खटाखट चढ़ गए। वसुबन्धु दोनों से परिचित था। उनसे वह जी खोल-कर मिला फिर उसने अपने संकट की कथा कही। विस्मय और भय से भर दोनों ने उसके सागरक की कथा सुनी। परन्तु दोनों का चित्त असंयत था, व्याकुल। उनमें से कोई 'शुभ्रकान्त' की

बात पहले नहीं पूछना चाहता था—कदाचित् उनकी उत्सुकता देख वणिक् मूल्य बढ़ा न दे।

जब टाइटस से न रहा गया, उसने वसुबन्धु से कहा—हमने 'शुभ्रकान्त' की बड़ी चर्चा सुनी है, वसुबन्धु।

वसुबन्धु ने कहा—हाँ 'शुभ्रकान्त' आपकी वस्तु है, आप उसे देखें।

वसुबन्धु के संकेत से सिंहलक ने 'शुभ्रकान्त' सामने रख दिया। वैदूर्य की छोटी डिबिया में वह विशाल 'शुभ्रकान्त' मोती रखा था। भीतर से ही वह डिबिया की सीमाएँ लाँघ चमक रहा था और उसकी आभा वैदूर्य के रंग से अनेक रूप धारण कर रही थी। दोनों ग्राहकों ने एक दूसरे को देखा, दोनों चकित रह गए।

वसुबन्धु ने वैदूर्य की डिबिया खोलकर मोती अपनी हथेली पर रखा। शुभ्र मोती वास्तव में निर्मल, 'शुभ्रकान्त' था। उसका धवल धाम अनिन्द्य था।

वसुबन्धु हाथ फैलाकर टाइटस से बोला—क्या दोगे इस वणिक्-दुर्लभ मोती का, टाइटस ?

"एक सहस्र दीनार"—टाइटस बोला।

"पाँच सहस्र तो इसके स्वदेश—शूर्पारक—में ही मिलने लगे थे, टाइटस।"

"दस सहस्र तक मैं इसके दे सकता हूँ, वसुबन्धु"—कल्ला ने धीरे से कहा।

टाइटस नहीं जानता था कि कल्ला सोफिया से 'शुभ्रकान्त' को भेंट की प्रतिज्ञा कर चुका है। वह कुछ हँसता-सा, कुछ गंभीर-सा होकर कल्ला की ओर देखने लगा। कल्ला गंभीर था। वह एकटक मुक्ता की ओर देख रहा था।

"सुना, टाइटस? कल्ला मोती के दस सहस्र देगा"—वसुबन्धु ने हँसते हुए कहा।

टाइटस ने कल्ला की ओर फिर देखा। वह गंभीर बना खड़ा था, पूर्ववत्।

टाइटस ने कहा—बारह सहस्र।

कल्ला ने धीरे से कहा—पन्द्रह।

टाइटस ने कुछ क्रुद्ध हो पुकारा—कल्ला!

कल्ला की दृष्टि मोती से न हटी।

टाइटस ने कहा—बीस।

कल्ला ने धीरे से उत्तर-सा दिया—पचास।

टाइटस झल्लाया हुआ उसी उच्च स्वर में बोला—एक लाख!

टाइटस ने कहा—पाँच!

कल्ला बोला—दस!

वसुबन्धु के नेत्र एक से दूसरे पर करघे की नली की नाईं निरंतर आते जाते रहे।

टाइटस ने चिल्लाकर कहा—मिलान!

कल्ला ने उत्तर दिया—वेनिस!

टाइटस ने काँपते स्वर में कहा—ट्यूनिस! पादुआ!

धीमे पर दृढ़ता भरे स्वर में कल्ला ने कहा—आतेलियर!

टाइटस काँप गया। 'आतेलियर' कल्ला का विख्यात प्रासाद था—रोम के ऐश्वर्य का नमूना, संचित कला का भवन। कितने ही राज्य 'आतेलियर' के मूल्य में क्रय किए जा सकते थे। टाइटस ने जब कल्ला की ओर देखा वह तब भी एकटक वसुबन्धु की हथेली पर पड़े 'शुभ्रकान्त' को निहार रहा था। टाइटस ने उसे विक्षिप्त जाना और दाँत पीसता वह कमरे से बाहर निकल गया।

मोती बिक गया। 'आतेलियर' उसी दिन रोमन कान्सुल के दफ्तर में भारतीय वणिक् वसुबन्धु के नाम चढ़ गया। रोमक नागरिकों ने दाँतों तले अँगुली दबा ली।

× × × ×

रात्रि के अंधकार में पर्यंक से उठते हुए कल्ला की पीठ में टाइटस की कटार भरपूर पड़ी। सोफिया के हाथ से छूटकर मोती दूर जा पड़ा। उसे ढूँढ़ने के अर्थ टाइटस ने जब आगे बढ़ना चाहा, चिन्ना के छुरे से आहत वह उसी पर्यंक पर जा गिरा।

रोम के दो संभ्रान्त ऋद्ध कुल बिखर गए। भारतीय मोती अन्धकार में पड़ा उनका बिखरना निर्निमेष देखता रहा।

प्रतिशोध

[प्रस्तुत कहानी आंध्र-सातवाहन राजा हाल से संबंध रखती है। इसका आधार कल्पना है। हाल स्वयं एक विशिष्ट कवि था और उसकी रची 'गाथा-सप्तशती' प्राकृत साहित्य का एक अमूल्य रत्न है। शक-क्षत्रप ईरानी सम्राटों के भारतीय शासक (गवर्नर) थे, जो कालान्तर में स्वतंत्र हो गए थे। इनके दो विख्यात कुलों ने मथुरा और महाराष्ट्र-मालवा में राज्य किया। महाराष्ट्र के क्षत्रपों में नहपान और रुद्रदामा विशेष विख्यात हुए। 'श्रेणी' शिल्पि-संघ का नाम था। 'चरित्र' उनके नियमों को कहते थे। 'नैगम' व्यापारियों की सभा थी। वैसे ही पौर, जानपद भी क्रमशः नगर और देहात की प्रजा की संस्थाएँ थीं। प्रथम शती ई० पू० और प्रथम शती ई० ।]

१४–४–४१ अपराह्न, २–४

१

'कुभे !'

'राजा ।'

'वैतालिक का स्वर सुना ?'

'सुना, राजन्, निशा उषामुखी हो चली है, मलय मार्ग बुहार रहा है, चन्द्र अपनी मरीचियाँ बटोर रहा है, रजनी-गंधा से मकरन्द झरझर झर रहा है—'

'और वह कम्पित स्वर, कुभे ? क्या वह भी सुन पड़ा ?'

'नहीं, मन्दाकिनी अभी न सुन पड़ी ।'

'परन्तु मैंने अभी अभी उसकी कल-कल सुनी थी' ।

'वह अन्तर्नाद था, राजा, संचित कामना द्वारा प्रजनित' ।

'तो क्या अन्तर्नाद की प्रतिध्वनि नहीं, कुभे ?'

'क्यों नहीं ? वह सुनो वह चिरपरिचित स्वर, मंदाकिनी की कल-कल, अन्तर्नाद की प्रतिध्वनि...'

कुभा कदाचित् कुछ और कहती परंतु हाल के उठे करों की छाया ने उसका मुख बंद कर दिया । हाल वातायन के बाहर

सिर निकाल व्यग्रतापूर्वक कुछ सुनने लगा था। उसका दक्षिण कर अब भी कुभा की ओर उठा नीरव रहने का आदेश कर रहा था। दूर मादक स्वर की प्रतिध्वनि उठ उठ निलय हो रही थी।

'सच ही, कुभे, अन्तर्नाद की प्रतिध्वनि सजीव हो उठो'। हाल ने वातायन के अलिंद में कुछ और झुकते हुए कहा, जब दूर की स्वर-लहरी विराम के अर्थ उतरी।

स्वर-लहरी फिर उठी, फिर उसकी ध्वनि दिगंत में भरने लगी। उसकी कम्पित मादकता सुरा के रंग की भाँति हाल की रग-रग में चढ़ने लगी। उसका मस्तक धीरे धीरे कम्पित होने लगा। दूर, सुदूर प्राची के क्षितिज से मंद ध्वनि उठती और धीरे धीरे चतुर्दिक् पसर जाती। हाल का व्यग्र हृदय उसकी प्रतिध्वनि से भर उठता, उसकी रोमावलि यकायक खड़ी हो जाती।

धीरे धीरे दूर का स्वर समीप होने लगा। राजमार्ग के गवाक्ष उत्सुक मस्तकों से भरने लगे। स्पष्ट स्वर के विस्तार को हाल ने सुना—'जागो रे जागो !

जागो रे जागो !'—आधार से क्षिप्र स्वर के पूर्व ही जगत् जाग चला था। निशा के अवसान से नहीं, मलय के स्पर्श से नहीं—श्रवण के लोभ से, अंतर की कल-कल से स्वयं हाल का कवि-हृदय कुछ स्मृति कुछ विस्मृति से रीझ उठता, कुछ गुन कुछ गा उठता और कुभा का पर्वतीय विलासी मन लोट पोट हो जाता। जब हाल अनमना-सा श्रेणि-नैगमों के व्यवहारों को, पूग-पौरों के चरित्रों को दिवस के आरंभ से अवसान तक

सुलझाता, उसका वह अनमना मन अंतर्नाद की प्रतिध्वनि में उलझा रहता और वह बारंबार उसे प्रतिक्षण स्मरण और विस्मृत होती लय की ओर लगा देता। कुभा के भावाकाश में भी मंदाकिनी की अनंत लहरें उठतीं और उनका निरंतर उत्थान-पतन उसकी सुकुमार देह को झकझोर देता।

२

मन्दाकिनी के प्रति हाल के स्नेह की गहराई अथाह थी। हाल उसमें डूब चला। उसका कवि-हृदय जो कभी भ्रमर के नृत्य की भाँति फूल फूल पर नाचता था, अब अंतर्मुख हो चला। बाह्य उपकरण अब उसकी सौन्दर्य-पिपासा शांत न कर सकते थे। मन्दाकिनी का रस उसके अंग-प्रत्यंग में भिन चला था। उसकी वीणा के तारों से केवल एक ध्वनि निकलती—

'जागो रे जागो

जागो रे जागो'—और वह प्रमत्त हाल केवल मन्दाकिनी के मद में चूर रहता।

मन्दाकिनी आती, उसके वातायन के नीचे खड़ी हो अपने चिरपरिचित स्वर में जगाती—

'जागो रे जागो

जागो रे जागो'—कब का जागा हाल हृदय की कसक दबा लेता।

एक दिन जब मंदाकिनी का स्वर राजप्रासाद के कँगूरों में कंपन भरता दूर की वायु में विलीन होने लगा, हाल के हृदय का

स्पन्दन तीव्र हो चला। उसके निःश्वासों से आकृष्ट, दुखी कुभा ने कक्ष में उपस्थित हो कहा—राजन्, काव्य की अंतर्मुखी प्रगति वेदना का जनन करती है, उसका विषय सूक्ष्म है। कामना स्थूल-भूत की उपासिका है, उसका शमन तृप्ति से होता है। तुम काव्य की परिधि से बाहर कामना के मार्ग में बढ़ चले हो।

हाल ने धीरे धीरे कुभा की ओर नेत्र फेरे। उन नेत्रों में क्या था, सो कुभा न जान सकी। उनका पथ सूना-सा दिखाई पड़ा, उनका लक्ष्य अगोचर-सा प्रतीत हुआ।

हाल कुछ न बोला।

कुभा कुछ और समीप सरक आई।

"सुना, राजन्?" उसने पूछा।

हाल अभी तक उसकी ओर एकटक देख रहा था।

वह बोला—सुना!

भारी, फैलते स्वर में न शक्ति थी, न अर्थ था। कुभा चुपचाप हाल के उन्मुख वदन को कुछ देर तक निहारती रही।

फिर कुछ और समीप सरककर हाल के नेत्रों में देखती हुई-सी उसने फिर पूछा—क्या सुना?

"सुना—'काव्य की अंतर्मुखी प्रगति वेदना का जनन करती है, उसका विषय सूक्ष्म है। कामना स्थूल-भूत की उपासिका है, उसका शमन तृप्ति से होता है। तुम काव्य की परिधि से बाहर कामना के मार्ग में बढ़ चले हो'।"—हाल बोला।

शब्द निष्प्राण थे, स्वर अस्पष्ट, पर स्मृति सतर्क थी।

कुभा धीरे धीरे हट गई, कक्ष से बाहर, हाल के नेत्र-पथ से पृथक्। भावनाओं के जगत् में वासना की अभिसृष्टि उसे स्वयं कुछ अयुक्त-सी लगी।

× × × ×

कुभा ने राजा के साथ जागकर रात काटी। विक्षिप्त राजा के हास-विलास छूट चले। एला-लवंग से बसा भोजन नीरस हो चला, ताम्बूल-वल्ली सूख चली। कुभा का विलास-विभ्रम कब का निष्फल हो चला था। जब उसने अपने विशाल नेत्रों को फैला, दोनों करों की अँगुलियों का जाल-ग्रंथन कर त्रिभंगी हो अपना अमोघ अस्त्र फेंका, हाल का हृदय और भी क्रुद्ध उठा।

उसने पूछा—कुभे, क्या तुझे अपनी प्रतिज्ञा इतनी शीघ्र विस्मृत हो गई? क्या तुमने नहीं कहा था कि हम दोनों में अब केवल अखंड मैत्री होगी और तुम अपने उपकरणों को यथासंभव मुझसे दूर रखोगी?

कुभा लजा गई। लज्जाजनित रोष को दबा वह राजा के पर्यंक पर उसके अत्यंत निकट जा बैठी। राजा ने रमणी के गोरे कंधे पर अपना श्याम चिबुक रख दिया। उसके नेत्रों से वारि-धारा उमड़ पड़ी। कुभा के स्कन्ध से होकर उसके स्तनमंडलों के बीच रोमावली को छेड़ती, खड़ी करती।

फिर जब मन्दाकिनी का स्वर रह रहकर धुँधले तारकमंडल में कंपन भरने लगा, कुभा यकायक उठी। अर्द्ध-विस्मित, अर्ध-विक्षिप्त राजा को मन्दाकिनी की कल-कल सराबोर करने लगी। उधर कुभा निर्वात-स्थिर दीपों के धुँधले प्रकाश में सोपान-मार्गों से दौड़ती

एक विमानभूमि से दूसरी पर होती सर्वोच्च पृष्ठतल पर जा खड़ी हुई। नीचे मंदाकिनी के पीछे-आगे जन-समुदाय धीरे धीरे बढ़ता आ रहा था। जन-समूह के समक्ष कुभा का मनोरथ सिद्ध न हो सकता था। जिस तीव्रता से वह पृष्ठतलों पर चढ़ी थी, उसी तीव्रता से वह नीचे उतर चली।

मंदाकिनी का स्वर राजप्रासाद के मुखद्वार से आगे सुन पड़ने लगा था। गज-शाला के स्तंभों से अपने को बचाती, हय-शाला के मंदुरों के बीच सावधानी से बढ़ती हुई कुभा रथ-शाला के द्वार पर जा खड़ी हुई। बाहर राजा का प्रमुख सारथी सोया था।

उसे जगाकर कुभा ने कहा—अरुण, तनिक 'प्रवह' को शीघ्रतापूर्वक जोत तो ले।

सारथी ने सिर झुका लिया। उसके संकेत करते ही रथ-शाला के सतर्क प्रहरी ने द्वार खोल दिए और पलक भर में रथ जुत गया। मंदाकिनी का स्वर आकाश की फूटती लाली में शब्द भर रहा था। 'प्रवह' का मंजु तोरण लटकती कुसुम-लड़ियों से कुभा का मुख-मंडन करने लगा। कुछ ही देर में वह हाल का वायु-रथ राजमार्ग पर अद्भुत वेग से दौड़ने लगा। नगर की उप-वन-परंपरा की परिक्रमा कर जब रथ राजप्रासाद की ओर लौटा शिल्पि-संघ के विशाल श्रेणि-भवन का उन्नत शिखर अब भी मंदा-किनी का स्वर प्रतिध्वनित कर रहा था।

कुभा के आदेश से रथ रुक गया।

× × × ×

कुभा ने पथ रोक पूछा—मंदाकिनी, सरल गायक मंद पड़ा है। सारंग लुब्धक की स्वर-माधुरी से आहत हो निष्प्राण हो चला है।

मंदाकिनी अपनी करुण मुखश्री को ईषत् हास्य से चमकाती हुई बोली—उससे कहो—शब्दों में नव-रस भरे। सारंग लुब्धक के स्वर-जाल में आत्मसमर्पण कर दे।

कुभा मन मारे रथ पर आ बैठी। मंदाकिनी की स्वर-लहरी और भी तरल, और भी विकंपित हो चली।

कुभा लौटी। परंतु उसने अपना प्रयास न छोड़ा। नित्य वह उसी समय श्रेणि-भवन के समीप मंदाकिनी से मिलती और हाल का मुक्त-संदेश कहती, स्वयं हाल का भी अनजाना।

एक रात्रि जब राजा ने नित्य की भाँति अपनी करुण कथा कुभा से कही कुभा उसके मनोवेग से कुछ त्रस्त हो उठी। राजा के शब्दों में आज कुछ विशेष पीड़ा थी, उसके स्वर में विचित्र अस्थिरता थी।

कुभा नित्य की भाँति प्रासाद-पीठ से नीचे उतर गई। दूर नगर के उपवनों की सीमा पर उसने मंदाकिनी से कहा—मंदाकिनि, आंध्र-सातवाहनों का वैभव स्वप्न-सा दिखने लगा है। कुलांकुर हिम के प्रभाव से सूख चला है।

"तो तू उसे रस-सुधा से क्यों नहीं सींचती ?" दिशाओं की ओर दौड़ती वाणी को लौटाती-सी मंदाकिनी ने मानों कुछ कहा।

"न, वह मेरी सुधा-धारा तो कब की सूख चुकी, बहिन। अब तू ही उस अंकुर को सींच।" कुभा बोली।

"अच्छा तो काल-यापन कर। और देख, उससे कह वह इन सात वर्षों को करुण-स्मृति में गाथा लिखे।" मंदाकिनी नित्य पथ पर चल पड़ी।

× × × ×

जब कुभा ने जाकर हाल से मंदाकिनी का वक्तव्य कहा, वह कुछ चकित हो उठा। उसे कुछ विस्मृत रहस्य-सा रह रहकर विकल करने लगा। परंतु वह कुछ भी स्मरण न कर सका। 'इन सात वर्षों की करुण-स्मृति' में कुछ भेद भरा निर्देश था, जिसे सोच सोच हाल विचलित हो उठता। रह रहकर वह कुभा से पूछता—कुभे, क्या रहस्य है 'इन सात वर्षों की करुण-स्मृति' का? परंतु कुभा कुछ न कह सकती थी। रह रह कर राजा का हृदय किसी अनजाने शाप से फलित होती व्यथा से मथने लगता। उसके हृदय के निचले आधार से कोई स्मृति-भावना धीरे धीरे उठती और जब तक कुछ सजग हो उसकी चेतना उसे आँकने को बढ़ती, वह धुँधली हो विलीन हो जाती और उसका हृदय पूर्ववत् उद्विग्न हो उठता। यह अंतर्मुख अभिशाप अनोखा था। इसको सहने में कोई उसका हाथ नहीं बँटा सकता था।

३

एक दिन विशेष शांत हो हाल ने अपराह्न में प्रमदवन के एक निभृत कुंज में डेरा डाला। निदाघ की तपन के बाद पावस की

झरझर आई, शीत के बाद वसंत के साधन जुटे, परंतु राजा ने निकुंज न छोड़ा। मंत्रियों ने आ आकर उसके प्रजारंजन-धर्म की चर्चा की, राज-व्यवहार का स्मरण दिलाया परंतु वह टस से मस न हुआ। उसकी लेखनी चलती रहती, उसके कंठ से करुणराग निरंतर निकलता ही रहता। जब लिखते लिखते उसके कर दुख जाते, उसकी भावनाएँ अपने भार से उसे शिथिल कर देतीं, तब कुभा उसके करों को अपने करों में ले धीरे धीरे दबाती, उसके मस्तक को अपने कंधे पर रख धीरे धीरे सहलाती। कुछ देर बाद उसकी लेखनी फिर चलने लगती, भावनाओं का उद्रेक फिर प्रबल हो उठता। बिखरे मस्यंकित तालपत्र कुभा धीरे धीरे एकत्र कर लेती, रसों का वेग चलता रहता—नित्य, निरंतर।

× × × ×

अमात्य ने आकर कर जोड़े। हाल का व्रत पूरा हो गया था, 'गाथासप्तशती' पूरी हो चुकी थी। पत्रों को एकत्र कर कुभा नीवी-सूत्र पिरो रही थी।

अमात्य ने कहा—महाराज, शक-क्षत्रपों ने फिर सिर उठाया है, सातवाहनों की सीमाएँ संकीर्ण होती आ रही हैं।

हाल हँसा। उसने कहा—आर्य, क्षत्रप महाक्षत्रप होंगे और पुलुमावि का गौरव झुक जाएगा—बस यही न? क्षहरात-क्षत्रप महाक्षत्रप हों और पुलुमावि का गौरव झुक जाय, मुझे विशेष चिन्ता नहीं।

अमात्य ने कानों पर हाथ धर लिए।

हाल कहता गया—परंतु पुलुमावि का गौरव शस्त्र पर अवलंबित था, रक्त से रंजित। उसे एक दिन जाना ही था। हाल के गौरव की नींव यह सप्तशती है, आर्य।

अमात्य ने स्वर्ण-वेष्टन में बँधे उस पत्र-समूह को देखा, और वह नतमस्तक हो गया।

× × × ×

राजप्रासाद के विशाल सभा-भवन में विराट् आयोजन हुआ। विशाल श्रीवितान के नीचे हाल के राजसिंहासन से भी ऊँचे स्वर्णासन पर प्रौढ़ कांति से फबती मंदाकिनी बैठी थी। उसकी ऊँची सीधी नासिका की ऊर्ध्व रेखा ललाट से निकलकर होंठों को झाँकती थी। उसके वर्ण की आभा से दुकूल का स्वर्णांचल कुछ मलिन पड़ गया था।

जब धूप-नैवेद्य के पसरते धूम्र के मध्य हाल ने मंदाकिनी की आरती उतारी, वह धीरे धीरे मुसकरा रही थी। राजा ने सप्तशती उसके फैले करों पर डाल दी। सभा-भवन साधुवाद से व्याप्त हो गया। सभ्यों, पौरों और जानपद-नागरिकों द्वारा फेंके कुसुमों से मंदाकिनी की केशराशि भर गई। ईषत् हास्य द्वारा मंडित उसकी मुखश्री द्विगुणित हो उठी। आनंद के अतिरेक से अवसन्न हाल ने घुटने टेक दिए। सारी सभा सहसा झुक पड़ी। चँवर-धारिणी कुभा मंदाकिनी के पीछे खड़ी विहँस रही थी।

हाल का राजप्रासाद दीपमालाओं के जाल से दमक रहा था। उसके शयनकक्ष के सामने की दीर्घिका कदलियों के स्तम्भों में

पुष्पों के हार पहिने बिहँस रही थी। आज हाल की विजय-रात्रि थी। अनेक प्रिय भावनाओं के तारतम्य से उसका मुखमंडल प्रफुल्ल हो रहा था।

मादक मुसकान लिए उसने अपने शयन-कक्ष में प्रवेश किया। सामने अद्भुत सौन्दर्य का प्रसाधन किए मंदाकिनी और कुभा बैठी थीं। कुभा का बीता यौवन भी मानो एक बार लौट आया था। दोनों विदेशी वेश में सामने बैठी थीं। राजा चकित रह गया। उसे ऐसा जान पड़ा जैसे मंदाकिनी को उसने उसी वेश में कभी देखा हो। जो भावना उसे कुछ वर्ष पूर्व स्मृति के चांचल्य से उद्विग्न कर दिया करती थी वह आज फिर लौटी। पर हृदय को भले प्रकार टटोलकर भी वह उस स्मृति की थाह न पा सका।

उसने अपना उद्वेग छिपाते हुए कहा—मंदाकिनी, तुमने आज की रात एक कथा कहने की बात कही थी।

उसकी बात काटती हुई सी मंदाकिनी बोली—सुनो, राजन्, सुनो वह कथा।

मंदाकिनी के स्वर में विशेष कम्पन था और उसकी चेष्टा में थी विशेष तीव्रता।

हाल ने देखा, मंदाकिनी के सहज श्वेत मुखमंडल पर एक किंचित् श्यामरेखा-सी दौड़ गई।

मंदाकिनी कहने लगी—राजन्, दस वर्ष हुए विख्यात क्षहरात वंश का एक क्षत्रप-परिवार ताप्ती के दक्षिण कोण में राज करता था।

हाल कुछ स्मरण करता-सा बोला—हाँ, हाँ देवि।

मंदाकिनी के स्वर की तीव्रता कुछ और बढ़ गई।

"पुलुमावि के एक विख्यात वंशज ने अपने यश के विस्तार के अर्थ उस वंश का नाश करना चाहा।"

हाल मंदाकिनी के श्वेत वर्ण पर श्यामरेखा की बढ़ती हुई गहराई की ओर देखता हुआ मंत्रमुग्ध-सा बोला—अच्छा, फिर ?

"फिर शक्ति और विक्रम से प्रमत्त उस सातवाहन ने क्षत्रपों का वह राज्य जीत लिया।"

हाल की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी, कथा के प्रवाह के साथ। मंदाकिनी की मुखकान्ति की श्यामता और घनी हो चली थी। उसका स्वर कुछ विकृत और भारी हो चला था। कुभा के नेत्रों में जल झलक रहा था। हाल मंदाकिनी की ओर बढ़ गया।

"जब वंदी क्षत्रप को लिए सातवाहन के सैनिक विजयी के स्कंधावारों की ओर चले, पराजित क्षत्रप की युवती भार्या प्राचीर के ऊपर खड़ी अपने सैनिकों को ललकार रही थी।"

मंदाकिनी का मुखमंडल हाल के सामने से सहसा हट गया और एक धुँधली स्मृति-रेखा उसके नेत्रों के सम्मुख दौड़ गई। उसके नेत्र यकायक चमक उठे।

उसने सावेग पूछा—वह कौन था, मंदाकिनी ?

मंदाकिनी ने उसका प्रश्न जैसे न सुना। वह कहती गई—उसके सैनिक मारे गए। फिर वह स्वयं विजेता के शिविर में पहुँची अपनी दासी कुनाली के साथ।

"ठहरो, मंदाकिनि, ठहरो। एक अनोखी बात है।" हाल क्षण क्षण सजग होता हुआ बोला।

"मुझे समय नहीं है, हाल, मैं जल्दी में हूँ। अपनी अनोखी बात फिर कह लेना। सुनो—"

हाल मंत्रमुग्ध की भाँति चुप हो रहा। मंदाकिनी के होंठों की नीलिमा प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी। हाल एकदम उसकी ओर बढ़ा। परंतु मंदाकिनी के पार्श्व से उठकर कुभा हाल और मंदाकिनी के बीच में आ रही।

मंदाकिनी बोली—राजन्, कथा के समाप्त होने तक वहीं बैठे रहो—"फिर उसने वंदी की प्राण-भिक्षा माँगी। परंतु उस समय विजेता में औदार्य की प्रचुर मात्रा न थी—उसने प्राण-भिक्षा न दी और वंदी···"

हाल की स्मृति शीघ्रता से लौटी आ रही थी और मंदाकिनी के मुख की श्यामता उसे डाँवाडोल कर रही थी।

मंदाकिनी का स्वर और कठोर पर निर्बल हो चला था—"और वंदी ने वधिक का खड्ग अपनाया।"

हाल विक्षिप्त-सा हो पुकार उठा—शक-रानी, तुम!

"हाल! मैं।" मंदाकिनी बोली, अपने विकृत दुर्बल स्वर को दृढ़ करती हुई, "कुनाली, शत्रु को आगे की कथा सुना।"

मंदाकिनी को कुभा ने अपने अंक में सम्हाल लिया।

हाल के मुख से फिर एक चीत्कार निकली—"कुभे, तू कुनाली !"

राजा की स्मृति फिर विलुप्त हो रही थी। उसने मंदाकिनी का प्राणहीन शरीर गिरते देखा, परंतु उसकी अवसन्न संज्ञाहीन देह में अपने को ही सम्हालने की शक्ति न थी।

अतृप्ति
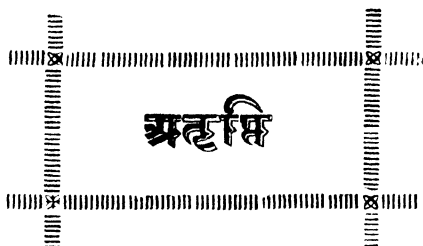
[प्रस्तुत कहानी अगली कहानी के साथ सम्बद्ध है। दोनों में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध का संबंध है। दोनों को एक साथ पढ़ना चाहिए। चरक कनिष्क के समकालीन थे, और अश्वघोष और नागार्जुन भी। पुरुषपुर, आधुनिक पेशावर, सम्राट् कनिष्क की राजधानी थी। समय—ईसा की प्रथम शती।]

२२-४-१९४१ अपराह्न २—४

रासायनिक व्यस्त था। द्रव्यों के विश्लेषण और समन्वय में तो वह सदा ही व्यस्त रहता था, परन्तु इधर कुछ काल से उसके व्यसन का परिमाण बढ़ गया था और आज उसकी त्वरा नित्य से अधिक थी। परन्तु इस त्वरा में असावधानी न थी वरंच अत्यधिक पटुता और सतर्कता थी। विशाल कमरे की भित्तियाँ अनेक प्रकार की पट्टियों से आवृत थीं और इन पट्टियों पर शतों-सहस्रों बोतलें रखी थीं। बोतलें शीशे, स्फटिक, वैदूर्य, नीलम, स्वर्ण, रजत, ताम्र, पीतल, लौह, काष्ठ सब प्रकार की थीं। प्रत्येक में तरल द्रव्य भरा था और प्रत्येक द्रव्य के रस का अपने पात्र से विशेष सम्बन्ध था।

एक ओर कोने में कई प्रकार की आँचें जल रही थीं—लाल, पीली, नीली। ज्वालाओं को प्रज्वलित करनेवाले ईंधन के अनेक प्रकार थे और फल-स्वरूप विविध प्रकार की लपटें प्रस्तर-पट्टिकाओं से घिरे कुंडों से ललक ललक ऊपर के लौह-पट्ट से टकरातीं और उसे चाट चाट लौट जातीं। लाल और पीली ज्वालाओं में कहीं भी धुएँ का नाम न था। केवल नीली आँच की सीधी लौ की पतली जिह्वा शीशे के अधोमुख विवर में प्रवेश कर उसके भीतर से चमकती

और उससे प्रसूत सूत-सा काला धुआँ उस विशाल सर्पाकार कुंभ की हंसग्रीवा से होता उसके उदर में उमड़ता-घुमड़ता कमरे के दूसरे कोने से लगे उसके पुच्छ-भाग में जा बैठता। ताम्र की नली लाल और पीली आँचों के ऊपर से होती हुई एक नीली ज्वाला के ऊपर सर्पाकार कुंभ की हंसग्रीवा से जा मिली थी। जब रासायनिक एक विशेष द्रव्य लाल ज्वाला में डालता, अग्नि में मानों कम्पन होता और रासायनिक पीली ज्वाला के पास दौड़ उसमें एक हरित पदार्थ डाल देता। हरित पदार्थ डालते ही पीली ज्वाला कुछ मंद पड़ जाती, फिर चिटक चिटक स्फुलिंग फेंकती। कुछ क्षणों के बाद विस्फोटों का तारतम्य चलता और ज्वाला के भीतर ही अग्नि के बुदबुदे से उठते और लय होने लगते। इसी बीच रासायनिक दौड़कर कमरे के मध्य में पहुँचता जहाँ ऊँची तिपाई पर स्फटिक का एक विशाल गोलार्ध खड़ा था। उसमें रखा काला रस एक अद्भुत यंत्र से निकल निकल उस नली के मुँह में दौड़ता जिसका एक सिरा नीली आँच में खो गया था। परंतु गोलार्ध से निकलकर रस ज्वाला तक न पहुँच सकता था और बीच में ही सूख जाता। यह प्रक्रिया प्रतिक्षण होती रहती। केवल जब रासायनिक दौड़कर धौंकनी से वायु उस गोलार्ध में प्रवेश कराता तभी वह रस प्रबल वेग से दौड़ता नीली आँच में जा टपकता! उसके स्पर्श करते ही एक प्रकार का धुआँ निकलकर शीशे के सर्पीले कुंड में धीरे धीरे चल पड़ता। रासायनिक दौड़कर सर्प-पुच्छ के अन्तिम भाग में पहुँचता और उसका सिरा खोल एक

नीलम की छोटी शीशी उससे लगा देता। धुआँ वहाँ तक पहुँचते पहुँचते एक तरल रस में परिवर्तित हो जाता और जब वह उस शीशी में धीरे-धीरे टपकता उसका रंग रक्त-सा आकर्षक-लाल हो जाता। रासायनिक प्रसन्न हो उसे द्वार के पास ले जाकर देखता।

घड़ियाँ बीत गईं, पहर भी बीत चले। वृद्ध रासायनिक बाल-चंचलता से, लाल से पीली आँच को, वहाँ से कमरे के मध्य में रखे गोलार्ध को, फिर शीशे के सर्पपुच्छ के समीप दौड़ता रहा। जब मध्याह्न का अवतरण होने लगा, उसकी शीशी एक विशेष चिह्नित रेखा तक भर चली। रासायनिक रुका। शीशी को बड़े प्यार से उसने दोपहर की चमकती धूप में देखा; फिर वह पार्श्व के कक्ष में जा घुसा। वहाँ दीवार से निकली पट्टिका के ताम्र-फलक पर एक मृतप्राय शशक मुँह और नथनों से फेन फेंक रहा था। रासायनिक उसकी ओर कुछ क्षण देखता रहा, फिर उसने शशक के नथने पकड़कर उनमें रस की कुछ बूँदें डालीं, कुछ उसके कान और नेत्रों में। नेत्र पथरा रहे थे।

जाड़े से काँपते जीव की भाँति शशक काँपने लगा। फिर यकायक उसने अपने चमकते नेत्र खोले। फेन का निकलना बन्द हो चुका था। वह उठने का प्रयास करने लगा। रासायनिक ने उसे उठाकर समीप के शुद्ध जल से भरे हौज में डाल दिया। शशक एक बार डूबकर निकला, फिर उछलकर नीचे कमरे में दौड़ चला। रासायनिक मुसकराता हुआ उसे कुछ क्षण देखता रहा.

फिर शान्त-उल्लासपूर्वक लम्बी श्वेत दाढ़ी पर हाथ फेरता कर की शीशी को बार बार निहारता वह गृह के अन्तःकक्ष में घुसा।

वह पुरुषपुर का जगद्विख्यात वैद्य चरक था।

× × × ×

पुरुषपुर की वारांगना शशिलेखा ने जिस समय चरक की प्रयोगशाला के बहिरंग में प्रवेश किया, चरक देश-विदेश से आए कुष्ठकाय रोगियों की चिकित्सा में लगा था। जब सेवक ने चरक से निवेदन करने के लिए उससे उसका नाम पूछा, गणिका ने कहा—यह जन-प्रवाह बह जाने दो। मुझे जल्दी नहीं है।

मध्याह्न के समय रोगियों का ताँता टूटा। सेवक फिर आया। उसने पूछा—देवि, महर्षि से क्या निवेदन करूँ?

"महर्षि से कह—यवनी शशिलेखा उनके प्रसाद के अर्थ उपस्थित है।" गणिका बोली।

क्षण भर बाद लौटकर सेवक नतमस्तक हो बोला—देवि, अग्न्यागार में महर्षि प्रतीक्षा कर रहे हैं।

आगे आगे विनीत सेवक और पश्चात् प्रौढ़ा यवनी अग्न्यागार को चले।

महर्षि ने द्वार पर बढ़कर यवनी के स्वागत में कहा—स्वागत, शशिलेखे, पुरुषपुर के तरुण हृदय की गति, स्वागत!

भूमि तक अभिवादन में झुकती शशिलेखा ने उत्तर दिया—महर्षि, ख्याति ग्लानि की जननी है वैसे ही जैसे तरुणता जरा

की। परन्तु काया की यह अधःप्रगति मुझे रस से विमुख नहीं करती।

महर्षि मुसकराते हुए गणिका की भावभंगी देख रहे थे। बोले—शशिलेखे, तुम प्रवाह से परे नहीं। अब नियति को आत्म-समर्पण कर दो।

यवनी के पीत मुख पर एक गहरी छाया-सी दौड़ गई। कुंचित लंबे केशों को पीछे फेंकती हुई वह उठी और भद्रपीठ के एक भाग पर धीरे धीरे बैठती हुई बोली—महर्षि, यदि रस के अनाधिक्य से सहमकर तरुणों से विमुख होती हूँ, तो प्रौढ़ प्रयास करते हैं, फिर उनके रस से प्लावित हो जब तृष्णा को जगाए जगत् की ओर देखती हूँ तब तरुण-परिवार टूट पड़ता है और थकी तृष्णा एक बार फिर सचेष्ट हो उठती है, काया फिर चेतना खो वासना में डूब जाती है। जब थकी देह को घसीटती रमणागार के निर्मल दर्पणों में अपनी छाया देखती हूँ, मुरझाया मुख मुझ पर हँसता है, झुर्रियाँ देख हृदय बिलखता है और एक बार और युवती होने के लिए मन आकुल हो उठता है। एक बार और, महर्षि, केवल एक बार।

महर्षि ने पिंगल केशों की छाया में आलोक को छिपते देखा। वे बोले—शशिलेखे, दस वर्ष पूर्व तुम यहाँ आई थीं, क्या स्मरण है?

"स्मरण है, महर्षि, परन्तु उसे भूलने का प्रयत्न कर रही हूँ। यही स्थल है, भगवन्, और यही भद्रपीठ।" हँसने की चेष्टा करती हुई शशिलेखा ने उत्तर दिया।

"गणिके, विलास का अन्त नहीं और काया में मन की गति में योग देने की शक्ति नहीं।" महर्षि कुछ गंभीर हो बोले।

"महर्षि, यह आपने तब भी कहा था। मैंने इसे सच पाया। परन्तु एक बार और। केवल एक बार उस तरल अद्भुत रस का आस्वादन चाहती हूँ।" यवनी ने घुटने टेक दिए।

महर्षि धीरे धीरे उठकर कमरे से बाहर निकल गए। यवनी पूर्ववत् झुकी रही। एक बार और संसार को चकित कर देने के निमित्त वह उठी और फिर भद्रपीठ पर जा बैठी। क्षण भर में उसने कल्पना से अपनी काया का परिवर्तन देखा—उसके प्रकोष्ठ की सेविकाएँ उसका बीस वर्ष पूर्व का रूप देख चकित रह गईं। प्रकोष्ठ पर फिर नृत्य-गान का रंग जमा। सारी मध्य एशिया के तरुण फिर शशिलेखा के चरणों में लोटने लगे। परन्तु 'कब तक ?' कोई मानो पूछता। शशिलेखा की रसलिप्सा को ठेस लगी। मानो उसने अपने शयनकक्ष में अपने आदर्श बिम्ब में अपनी छाया देखी—झुकी, धुँधली छाया, जर्जर, थकी काया। वह मानो रो उठी। परंतु तरुणियों के व्यंग्य से प्रतिशोध की भावना जगी। उसने लौटकर पूछा—'कब तक ?' फिर वह स्वयं अट्टहास सा कर उठी। यह अंतर का सजग रंगमंच था। शशिलेखा क्षण भर में अनंत रूप धारण करनेवाला यह बहुरंगी दृश्य देख गई। उसके बाहर भीतर एक प्रकार का आंदोलन होने लगा।

"परंतु कब तक ? कब तक इस प्रकार के साधनों से प्रकृति की प्रगति को चुनौती दोगी, शशिलेखे ?" ऋषि का

गंभीर स्थिर स्वर कमरे में गूँज गूँज गणिका के हृदय में उमड़ने लगा।

अभी अभी यही स्वर उसने भीतर सुना था। कुछ भय से उसका मुख विद्रूप हो उठा। उसने मस्तक उठाकर महर्षि की ओर देखा। उनके दक्षिण कर में एक छोटी शीशी थी, जिसमें रखे तरल द्रव्य का रक्तराग धातु के बाहर तक मानो चमक रहा था और जिसके ऊपर अनंत सुनहरे बुदबुदे नृत्य कर रहे थे।

शीशी के रक्तराग ने शशिलेखा के अंतर में उठते भावों पर अधिकार कर मानो उन्हें फेर दिया। प्रौढ़ा के मलिन मुख पर एक अरुण आभा-सी झलकी और उसके अवाक् होंठ धीरे धीरे कंपित हुए।

"जब तक रासायनिक महर्षि चरक की प्रयोगशाला में उस अद्भुत भिषक् के सतर्क कर क्रियमाण रहेंगे"—वह धीरे धीरे मंत्र-मुग्ध-सी बोली।

"नहीं, नहीं, शशिलेखे, अब कायिक वेग को रोकना होगा—जानो, कि प्रकृति की प्रगति, काल के प्रयास पर चरक का कुछ वश नहीं। वह स्वयं उसका दास है।" महर्षि शशिलेखा के समीप आ गए।

सामने के आदर्श में यवनी ने अपना प्रतिबिंब देखा। उसके मुख की झुर्रियाँ अब भी उस पर व्यंग्य-हास कर रही थीं। परंतु उसने जब महर्षि के कर में पूर्व-परिचित रस से भरी शीशी देखी, उसकी आशावेलि हरी हो चली।

"प्रतिज्ञा करो, गणिके, अब चरक की प्रयोगशाला में पाँव न धरोगी।" ऋषि ने कुछ कठोर स्वर से कहा।

"प्रतिज्ञा करती हूँ, महर्षि, अब चरक की प्रयोगशाला में पाँव न धरूँगी।" उसके व्यस्त हृदय ने मानो अनायास महर्षि का वाक्य दुहराया। कामी को त्वरित अभितृप्ति की भाँति वह कामातुरा नारी विषय के साधनों के अत्यंत निकट थी। कोई प्रतिज्ञा इस समय उसके लिए कठिन न थी।

महर्षि के कर की शीशी का कुछ रस उसकी रसना पर टपक भीतर बह चला। धीरे-धीरे शशिलेखा संज्ञाहीन हो चली। पीछे द्वार पर सेवक जलपात्र और वस्त्र लिए खड़ा था। महर्षि के संकेत से उसने शशिलेखा का मुखमंडल जल में डूबे वस्त्र से ढक दिया फिर रह रहकर उस पर छींटे देने लगा। गणिका के वाम कर की नाड़ी वैद्य के दक्षिण कर में थी और उसकी नासिका पर के वस्त्र का छोर चरक के वाम कर की अँगुलियों के सहारे कुछ उठा था।

धीरे धीरे यवनी ने संज्ञा लाभ की। उसने नेत्र खोले। भीतर एक अद्भुत प्राण का प्रस्फुरण हो रहा था। दौड़ पड़ने के लिए अनेक संधियाँ जोर मार रही थीं।

यवनी उठ बैठी। उसने सामने दीवार पर लगे दर्पण में अपना मुख देखा। वह स्वयं चकित रह गई। बीस वर्ष पूर्व जिस रूप को खोकर वह रो पड़ी थी उसे उसने लौटते देखा। दस वर्ष पूर्व जिस कान्ति को उसने खोकर इसी रस के सहारे

फिर पाया था, उसे अपने मुखमंडल पर खेलते देख वह मुसकराई। उसके नेत्र चमक उठे।

उसने चरक से माँगा—महर्षि, यह रस मुझे दे दो। मैं तुम्हें जीवन का प्रेम-रस दूँगी।

महर्षि उसका परिवर्तन देख कुछ हँसे। फिर कुछ कठोर हो वे बोले—गणिके, अब चरक की प्रयोगशाला में प्रवेश न करना। और यदि तुम्हें फिर परिवर्तन की आवश्यकता हुई तो अश्वघोष और नागार्जुन के पास जाना।

गणिका प्रसन्नतापूर्वक उठ खड़ी हुई। वेग से वह द्वार की ओर बढ़ी।

महर्षि ने फिर एक बार चिल्लाकर कहा—गणिके, अपनी प्रतिज्ञा न भूलना।

गणिका ने लौटकर व्यंग्य-हास किया और वह नटी हरिणी-सी एक छलाँग में राजपथ पर आ गई।

महर्षि कुछ क्षण तक शीशे के तरल रस की ओर देखते रहे फिर उन्होंने सामने की विशाल धन्वन्तरि-प्रतिमा पर उसे बलपूर्वक फेंका। शीशी प्रतिमा के मस्तक पर चूर चूर हो गई, और रस का स्रोत उसके मुख पर बह चला। प्रस्तर-मूर्ति मानो कुछेक क्षण के लिए सजीव हो उठी।

चरक प्रयोगशाला में वेग से घुसा। उसने तीन कोनों में लटकती बोतलों की नलियों का मुँह खोल दिया। स्वयं वह

शीघ्रता से प्रयोगशाला के बाहर निकल गया। उसका एकमात्र सेवक उसके पीछे भागा।

कुछ ही क्षणों के बाद प्रयोगशाला में अनंत विस्फोट होने लगे और उसका शिखर अग्नि की लपटों में चमकने लगा। अनन्त प्रयास से अनेक यत्न से प्रस्तुत चरक की विख्यात प्रयोगशाला जल उठी।

चरक बाहर खड़ा उसका जलना देखता रहा।

——

अभितृप्ति और अभिशाप

[इस कहानी का संबंध पिछली कहानी से है। पार्श्व कनिष्क का गुरु था। उसी की सम्मति से कनिष्क के समय में संघ की संगति (Council) बैठी थी। वसुबन्धु उस संगति का प्रधान था। उसी संगति में 'महाविभाषा' की रचना हुई थी। अश्वघोष बौद्ध दार्शनिक और कवि था—बुद्धचरित, सौंदरनंद और सूत्रालंकार का रचयिता। नागार्जुन विख्यात भिक्षु था जिसने भक्ति-प्रधान महायान को जन्म दिया। उसी ने बुद्ध की सर्वप्रथम प्रतिमा बनवाई और बोधिसत्त्व की कल्पना को सुंदर मूर्त-रूप प्रदान किया। हीनयान में मूर्तिपूजा निषिद्ध थी—केवल लाक्षणिक पूजा होती थी—बुद्ध के चरणों की, भिक्षापात्र की, उष्णीष की, स्तूप, चैत्य और बोधिवृक्ष की। उद्यान हिंदुकुश के दक्षिण का प्रदेश था, स्वातनदी के समीप का। खुत्तन आधुनिक खोटान का प्राचीन नाम था। सीता का आधुनिक नाम यारकंद है, जो ज़ोरकुल झील से उत्तर की ओर बहती है। विषय प्रांत को कहते थे और पुरुषपुर पेशावर का प्राचीन नाम था। कुषाणों का वेश वेदिकाओं की तक्षित प्रतिमाओं से जाना जाता है। एक शक-कुषाण द्वारपाल की मूर्ति नागार्जुनी कोंडा की स्तूप-वेदिका पर उत्कीर्ण है। कुषाण कनिष्क की विशाल मूर्ति मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है। पादपीठी पर सिंहासन पर बैठे राजा अपने पाँव रखता था। बौद्ध भिक्षु के तीन वस्त्र त्रिचीवर कहलाते थे—उत्तरासंग (ऊपर का वस्त्र), अंतर्वासक (नीचे की लुंगी) और संघाटी (ओढ़नेवाला शाल)। 'पौर' नगर का कोतवाल था। चरक, पार्श्व, वसुमित्र, अश्वघोष और नागार्जुन ऐतिहासिक व्यक्ति थे—कनिष्क के समकालीन।]

२४–४–४१ अपराह्न १०–३०–३ ३० ई०

१

क़फ्स का उत्तराधिकारी देवपुत्र कनिष्क शाहानुशाह शक्ति का अतृप्त पुजारी था। उत्तर भारत का प्रांगण उसने लहूलुहान कर दिया, काश्मीर के गिरि-गह्वर उसने रुंड-मुंडों से भर दिए। श्रीनगर के कुसुमोद्यानों से चिरायँध की गंध उठने लगी। चील की भाँति झपटकर उसने पाटलिपुत्र से दार्शनिक अश्वघोष को पुरुषपुर में ला बिठाया।

पार्श्व ने उपदेश किए, वसुबन्धु ने शक्ति का उपहास किया परंतु कनिष्क की स्वर्णलिप्सा न शांत हुई। वह उद्यान पार कर मध्य एशिया के पूर्वी भाग को कुचलता चीन की ओर झुका। पूर्वजों की पराजय का उसने चीन से प्रतिशोध लिया। चीन के करदायी राज्यों से उसने उसका कर छीन लिया। सीता की तलेटी में उसने नरयज्ञ किया और स्वयं वह महाकाल की भाँति मृत्यु का तांडव करने लगा। पार्श्व और वसुबन्धु उसकी रक्त-लिप्सा देख सशंक हो उठे।

खुत्तन और अन्य देशों से स्वर्ण-रत्न लाकर उसने पुरुषपुर को समृद्ध कर दिया। दिग्विजय से लौटकर वह उस दृप्त

रूपशालिनी शशिलेखा के अंक में विश्राम करता जिसके रूप की चर्चा गंधार के घर घर में थी। शशिलेखा संसार की दृष्टि में एक अमानवी अभिसृष्टि थी जिसके सौंदर्य का ह्रास उसकी इच्छा पर निर्भर था। जब कभी उसका यौवन अवसान की ओर झुकता वह उसे किसी अदृष्ट शक्ति से लौटा कर पुनर्नवा हो आती। पाटलिपुत्र से चीन तक उसके विलास की धाक थी। पार्श्व-वसुबन्धु तक उसके प्रसाद की कामना करते। जो उनके मंत्र से उपलब्ध न था वह उसको इच्छामात्र से सम्पन्न होता। सम्राट् उनका शासक था, पर उसका याचक।

× × × ×

मथुरा के विजित विषय ने विद्रोह किया था। कनिष्क की भुजाएँ फड़क उठीं। उसका रक्त खौल उठा। उद्यान के दुर्द्धर्ष सामरिकों को ले उसका सेनापति मथुरा पर जा टूटा। यमुना भय से दो हाथ नीचे सरक गई। असाधुविध्वंसक कृष्ण की विशाल प्रतिमा के दक्षिण कर में चक्र की पकड़ ढीली हो गई। शूरसेनों का विशाल जनपद एक छोर से दूसरे छोर तक हिल उठा। नर-नारी समान भय से काँप उठे। कौन उनकी रक्षा करता? केवल एक दरिद्र भिक्षु उनका सहारा था—विदर्भ का नागार्जुन।

नागार्जुन मोग्गलिपुत्त तिस्स उपगुप्त के चीवर में उसी की भाँति मथुरा के कंगालों का धन था, निर्बलों का सहारा। उपगुप्त की आत्मा उसमें पुनर्जीवित हो उठी थी। जब उसने विध्वंसकारियों

की ध्वंसलीला के विरुद्ध आचरण किया कुषाण-सेनापति तुसाष्प ने दाँतों तले अँगुली दबा ली।

विधर्मियों ने नागार्जुन को बंदी कर लिया। सारी मथुरा काँप उठी। सबको ज्ञात था कि नागार्जुन का अंत अग्नि की लपटों में अथवा शूल की नोक पर होगा, परन्तु भिक्षु की आकार-चेष्टा में कोई भेद न पड़ा। शाश्वत मुसकान उसके मुख पर खेलती रहती। जहाँ एक ओर वह मथुरावासियों को अभयदान देता वहीं वह नृशंस आततायियों को प्रेमपूर्वक स्मितवदन हो उत्तर देता। सेनापति चकित था—यह मानवता का अद्भुत रहस्य है। उसके लिए नागार्जुन एक अनोखी पहेली बन गया। वह स्थिर न कर सका—उसे वह छोड़ दे अथवा ज्वालाओं को अर्पित कर दे। बाँध ले चला वह उसे पुरुषपुर को उसे सम्राट् के प्रसाद पर छोड़।

"भिक्षु, तू साम्राज्य का शत्रु है।" रत्न-जटित स्वर्ण-सिंहासन से कुछ नीचे झुकते हुए कनिष्क ने बन्दी से कहा। लम्बे चोगे के सुन्दर कढ़े किनारे से उसकी असि की रत्नखचित मूठ मिल गई थी। स्वर्ण-राजदंड रह रहकर चमक उठता था।

"भिक्षु शत्रुता नहीं करता, सम्राट्। शाश्वत बन्धुत्व उसका मंत्र है, प्रेम उसका चिर सखा।" आनन्द जैसे भिक्षु के रोम रोम से फूट रहा था।

निष्करुण दुर्दान्त सेना चकित रह गई। सेनापतियों ने एक दूसरे को देखा। सम्राट् उसकी बात न समझ सका।

"क्या तुमने विद्रोहियों को धीरज न बँधाया था?" उसने कुछ अस्थिर हो पूछा। उसके बृहदाकार जूते पादपीठी पर धमक उठे।

"धीरज मैंने दोनों को बँधाया, सम्राट्—दुखी प्रजा को और साम्राज्य-सेनापति तुसाष्प को। एक को अत्याचार के ऊपर हँसने को कहा, दूसरे को आवागमन के भयंकर दुःख से निर्वाण के अर्थ सयत्न होने का उपदेश किया।" हँसते भिक्षु की श्वेत दंतपंक्ति रह रहकर चमक उठती थी।

सम्राट् ने फिर कुछ न समझा। उसका उन्मुख वदन उत्सुकता से कुछ और आगे झुक गया।

"क्या कहा, भिक्षु? तुमने दोनों को धीरज बँधाया? दोनों की भूमि क्या एक है?" नेत्रों को विस्फारित करता कनिष्क फिर बोला।

"दोनों की भूमि समान है, सम्राट्, दोनों के भय समान हैं।"

"वह किस प्रकार, भिक्षु?" कनिष्क को जिज्ञासा हुई।

"क्योंकि प्राणियों की अनुभूतियाँ समान हैं, तृष्णाएँ समान। जो भेड़िया शशक पर टूटता है, वही सिंह के समक्ष दुम दबा लेता है और स्वयं सिंह आगत भय की आशंका से बन बन मारा मारा फिरता है।" भिक्षु के हँसते नेत्र एक बार सारी सेना और कनिष्क के सभ्यों पर दौड़ गए।

सभी विस्मित थे, सभी उत्सुक।

"तो क्या तुम्हें वधिक का खड्ग भयकारक नहीं ?" सम्राट् ने पूछा।

"वधिक का खड्ग भयकारक क्यों हो, सम्राट् ? भयकारक तो वह तब होता जब मैं जन्म को सुख और मरण को दुःख जानता। इन दोनों की अनुभूति तो समान है। यदि तुम्हें अपने प्रासाद के एक कक्ष से निकलकर दूसरे में प्रवेश करते समय द्वार से भय नहीं होता तो मुझे मरण से भय क्यों हो ? वह तो निर्वाण के मार्ग में एक अवधि और मुझे आगे सरका देता है।" भिक्षु ने उत्तर दिया।

सम्राट् ने ललाट से स्वेद पोंछ लिया। पार्श्व की ओर जब उसने दृष्टि फेरी तो उस वृद्ध को मुसकराते पाया। वसुबंधु की मुद्रा कुछ सतर्क हो उठी थी, कुछ ईर्ष्यालु। भिक्षु पूर्ववत् मुसकरा रहा था। त्रिचीवर से ढका उसका सुन्दर शरीर मानो दमक रहा था। उत्तरासंग का ऊर्ध्व छोर ग्रीवा के पीवर भाग से चिपका था और संघाटी का निचला छोर अन्तर्वासक और उत्तरासंग के संधि भाग को ढकता हुआ दाहिने पार्श्व से उठकर वामस्कंध से पीछे उतर गया था। चौड़ा वक्ष रह रहकर फूल उठता था। मुखमंडल पर अद्भुत शान्ति विराज रही थी।

"तुम क्या सोचते हो, भिक्षु, क्या मैं भी किसी का भय करता हूँ ?" सम्राट् ने कृत्रिम हास्य करते हुए पूछा।

भिक्षु ने अट्टहास किया। सभा की कृत्रिम मर्यादा उसके स्वच्छन्द आचरण को न बाँध सकी।

"कह दूँ, सम्राट्?" उसने उत्तर में पूछा।

संत्रस्त, झिझकता, सम्राट् बोला—बोलो, भिक्षु।

"फिर सुनो, सम्राट्। क्या तुम्हें सद्यः विजित प्रजा का भय नहीं? क्या तुम चीनराज से भय नहीं करते? क्या तुम्हें सुदूर पश्चिम में उस रोम को उठती आँधी की और उसकी पूर्व में बढ़ती सीमा की आशंका नहीं? और फिर क्या अपने ही गृह में किसी व्यक्तिविशेष को बढ़ती शक्ति का त्रास तुम्हारे हृदय में सदा नहीं बना रहता?"

"बस, बस, भिक्षु, बस।" सम्राट् ने यकायक भिक्षु को चुप कर दिया। फिर उसके नेत्र अनजाने तुसाष्प पर जा लगे। तुसाष्प तस्कर की नाईं सब ओर से दृष्टि खींच पृथ्वी की ओर देख रहा था। उसने भिक्षु को मन ही मन कुछ कहा और सम्राट् ने भी।

"रक्षक, भिक्षु को छोड़ दो।" सम्राट् की कंपित वाणी यकायक सुन पड़ी।

२

दस वर्ष बाद।

शशिलेखा का यौवन फिर एक बार अवसान की ओर झुका। परन्तु लालसा और तृष्णा अब भी उसका आँचल पकड़े रहीं। फिर एक बार युवती होने की कामना उसके हृदय में बल पकड़ने लगी। चरक की प्रयोगशाला जल चुकी थी। वहाँ का मार्ग वैसे भी

चरक ने बन्द कर दिया था। रह गए थे अश्वघोष और नागार्जुन।

शशिलेखा एक दिन अश्वघोष के समीप जा पहुँची। महाकवि बुद्धचरित और सौन्दरनन्द की रचना समाप्त कर चुका था। उसके पास और क्या था जो वह देता। उसने महाकाव्यों के पृष्ठ गणिका के सम्मुख खोल दिए। फिर एक एक पंक्ति की विशद व्याख्या कर वह उसे उसका दार्शनिक रहस्य समझाने लगा।

शशिलेखा उसके दर्शन पर हँसी। काव्य की माधुरी ने उसके अर्धसुषुप्त विलास को और गुदगुदा दिया। यशोधरा का प्रेम, मार की सेना और नन्द की विहार-कामना उसे अधिक आकर्षक प्रतीत हुई। परन्तु अश्वघोष उसकी अन्यमनस्कता से चिढ़ गया। उसने काव्यों की नीवी बाँध ली।

शशिलेखा ने धीरे धीरे कहा—महात्मन्, मेरे रोग की औषधि तुम्हारे पास नहीं। तुम्हारे भोजपत्रों में क्या है सो तुम्हीं समझो। मुझे चाहिए जीवित मानव की विकल पुकार और उसकी अभितृप्ति का मेरे अवयवों में साधन। कहो, प्रस्तुत कर सकते हो ?

× × × ×

शशिलेखा ने प्रातः जब नागार्जुन के विहार में प्रवेश किया, भिक्षु पूजा के निमित्त सज चुका था। उसका शरीर चंदन से चर्चित था। उसकी देह पर सुन्दर क्षौम के त्रिचीवर फब रहे थे और पुष्प-मालाओं से उसकी ग्रीवा भरी थी।

शशिलेखा उस वृद्ध का चिर-यौवन देख सहम गई। उसने भिक्षु के चरणों में मस्तक झुका दिया। भिक्षु का दमकता सुंदर मुखमंडल मधुर हास से और भी देदीप्यमान हो उठा।

शशिलेखा ने पूछा—भिक्षु, देश-विदेश में तुम्हारी ख्याति है। क्या मेरा भी उपचार करोगे ?

भिक्षु हँसा।

"चरक ने दो बार मुझे वह शक्ति और रूप प्रदान किए थे जिससे सारा विलासी जगत् अपना आपा खो मेरे चरणों में लोटता रहा। परन्तु फिर उस काया की चमक धुँधली पड़ गई।" यवनी ने अपनी मुरझाई यौवनलता को मुसकान से कुछ हरी करते हुए कहा।

भिक्षु चुपचाप हँसता रहा।

"चरक की प्रयोगशाला की राख दिगन्त में उड़ चली है। परन्तु उस रासायनिक का मंत्र अब भी मेरे कानों में गूँज रहा है।" शशिलेखा ने कुछ रुककर फिर कहा।

भिक्षु ने उत्सुकतापूर्वक भौंहें कुछ ऊपर खींच लीं। चरक का मंत्र अवश्य असाधारण होगा—उसने विचारा।

"चरक ने क्या कहा, भद्रे ?' हँसते हुए नागार्जुन ने पूछा।

"भिक्षुवर, चरक ने कहा—'गणिके, अब चरक की प्रयोगशाला में प्रवेश न करना। और यदि तुम्हें फिर परिवर्तन की आवश्यकता हुई तो अश्वघोष और नागार्जुन के पास जाना।' तो क्या मेरी

आवश्यकता की पूर्ति इस विहार में होगी, भिक्षुवर ?" शशिलेखा ने नागार्जुन से उत्तर में पूछा।

पूर्ववत् हँसते हुए भिक्षु ने कहा—जाना, भद्रे जाना। परन्तु क्या महाकवि के साक्षात् नहीं हुए ?

"हुए, भिक्षुवर, हुए क्यों नहीं। परन्तु महाकवि का तो कलेवरमात्र नवरसों से रँगा है। भीतर तो दार्शनिक का कठोर प्रस्तरहृदय है। वहाँ हमारा स्थान कहाँ ? अश्वघोष तो आडम्बर रखता है—भीतर कुछ, बाहर कुछ।" यवनी ने मुसकरा दिया।

नागार्जुन का रोम रोम हँस रहा था। हाथ के फूलों को उसने कुचल दिया। फिर वह बोला—शशिलेखे, मेरे पास तुम्हारे खोए धन की अनुक्रमणी रखी है। चलो तुम्हें दे दूँ।

गणिका का अकृत्रिम हास विहार-प्रांगण में व्याप्त हो चला। जहाँ तहाँ खड़े विगलित भिक्षुओं की कामनाएँ कुछ तिलमिला उठीं। अपने पीठस्थविर की जादूगरी का प्रभाव उन्होंने खुली आँखों आज देखा। उसकी शक्ति भरी वाणी उन्होंने अपने कानों सुनी—आओ, गणिके, जो तुम्हें चरक और अश्वघोष न दे सके वह मैं दूँ।

आगे आगे नागार्जुन और पीछे वह कुषाण-साम्राज्य की विख्यात विलासिनी शशिलेखा चैत्य में घुसी।

चैत्य का द्वार फूलों से सजा था। द्वार पर शंख-पद्म चित्रित थे और द्वारतोरण से पुष्पलड़ियाँ लटक रही थीं। भीतर धूप नैवेद्य की सुरभि धीरे-धीरे उठकर चतुर्दिक् फैल रही थी। सामने

मानव आकार की सुन्दर तक्षित बोधिसत्त्व की प्रतिमा अभय मुद्रा में खड़ी थी। अद्भुत शांति और मधुर हास लिए वह मूर्ति हृदय में आनन्द और निर्भयता भर रही थी।

भिक्षु ने साष्टांग प्रणाम किया। फिर उसने दीवार से लटकती वीणा उतार ली और लगा वह उस पर धीरे धीरे अपनी अँगुलियाँ दौड़ाने। धीरे धीरे तारों का धीमा स्वर तीव्र हो चला और जैसे जैसे अँगुलियों का संचालन त्वरित होने लगा शशिलेखा की प्रौढ़ काया में नवीन प्रयास भरने लगा। वह स्वयं अर्धतक्षित प्रतिमा-सी स्पन्दनहीन हो बैठ रही। इधर नागार्जुन का स्वर विताड़ित वल्लकी की झंकृति से मिल मिल चैत्य में गूँजने लगा। बुद्धचरित की पंक्तियाँ काँप काँप उस भिक्षु के कंठ से निकलने लगीं।

शशिलेखा चकित हो उठी। वह कभी मूर्ति और कभी भिक्षु की ओर देखती फिर राग की प्रतिध्वनि से वह स्वयं चंचल हो उठती। धीरे धीरे उठकर वह भिक्षु के समीप जा बैठी और उसने अपना स्वर भी नागार्जुन के काँपते स्वर में मिला दिया।

घंटों यह तार चलता रहा। शशिलेखा न समझ सकी कि उसका आकर्षण मूर्ति के प्रति था अथवा नागार्जुन के प्रति अथवा भिक्षु की असाधारण संगीतकला के प्रति। मध्याह्न के समय जब वह भिक्षु का कंधा पकड़े चैत्य से बाहर निकली उसे श्रमणों के मध्य अपना मार्ग बनाना पड़ा।

× × × ×

मास-वर्ष बीत गए। नित्य शशिलेखा आती और नागार्जुन के साथ चैत्य में प्रवेश करती, फिर वह वहाँ भिक्षु की सुतन्त्री के तारों के राग में अपना राग मिला देती। नित्य।

धीरे-धीरे नागार्जुन ने वह चैत्य छोड़ दिया। उसमें अब केवल शशिलेखा प्रवेश करती, संगीत-रचना करती और अनंत राग छेड़ती।

एक दिन नागार्जुन ने पूछा—भद्रे, चरक और अश्वघोष को छोड़ जिस वस्तु की खोज में तुम यहाँ आई वह क्या अब तुम्हें नहीं चाहिए?

अत्यंत तृप्ति के साथ हँसते हुए शशिलेखा ने कहा—नहीं, भिक्षुवर, मैं सर्वस्व पा चुकी।

३

नागार्जुन के प्रभाव ने कनिष्क को नितान्त अन्य व्यक्ति बना दिया—स्वयं कनिष्क का अनजाना। अब उसने अशोक की ही भाँति 'धर्मविजय' की सोची। पार्श्व ने उसके नये प्रयास पर बधाई दी, वसुबन्धु ने सहयोग दिया, अश्वघोष ने उसके प्रयत्न को सराहा।

अशोक की ही भाँति कनिष्क ने भी धर्म के प्रचारार्थ विदेशों में बौद्ध पंडित भेजने चाहे। परन्तु उसके अर्थ एक संगति का होना अनिवार्य था। काश्मीर के सुन्दर निसर्ग के बीच फूले श्रीनगर के समीप कुंडलवन विहार में संघ बैठा। सर्वास्तिवादियों

का गुरु महायान का प्रवर्तक नागार्जुन उनका नेता था, वसुबन्धु उनका प्रधान। यवनी शशिलेखा भिक्षुणी वर्ग की नेत्री थी।

प्रचारक महायान का भक्तिप्राण संदेश ले उड़े—खुतन-तिब्बत को, चीन मंगोल को। नागार्जुन ने जड़ धर्म में प्राणप्रतिष्ठा की. बुद्ध की प्रथम प्रतिमा निर्मित की, बोधिसत्त्व की मनोहर कल्प जगाई। स्थविरों को देव मिले, उपासकों को पुराण।

× × × ×

रात्रि के दो पहर बीत चुके थे, पुरुषपुर इस समय भी व्यस्त सा लगता था। राजपथ उत्तरापथ से आए साम्राज्य के नए नागरिकों से भरा था। खुत्तन और पश्चिमी चीन की तुसाष्प की सेनाएँ नगर में भर रही थीं। ऊँचे कुषाण सैनिक लम्बे चोगे पहिने, चुने पाजामे कसे, ऊँचे भारी जूते, ऊँचे टोप धारण किए, ऊँचे भाले फिराते नगर में घूम रहे थे।

दिन भर के दानाचरण के बाद कनिष्क शय्यागार में पर्यंक पर पड़ा था। अभी उसे नींद नहीं आई थी। उसके सिरहाने बैठा नागार्जुन साधुवाद कर रहा था, सामने तुसाष्प उसके आदेश के अर्थ खड़ा था।

कनिष्क बोला—तुसाष्प, कल प्रात: धर्मसभा लगेगी। राज्य भिक्षुवर नागार्जुन के चरणों में अर्पित करूँगा। उसकी तय्यारी करो।

"जो आज्ञा"—कह तुसाष्प ने सिर झुका लिया। उसकी भृकुटियाँ विकृत हो उठी थीं।

"तुसाष्प, अब मैं विश्राम करूँगा।" सम्राट् बोला।

तुसाष्प ने मस्तक झुका लिया। फिर वह धीरे धीरे शयन-कक्ष की ओर देखता हुआ बाहर निकल गया। उसके होंठों पर व्यंग्यभरी मुसकान खेल रही थी।

नागार्जुन ने भी उठते हुए कहा—मैं भी चला सम्राट्। तनिक सतर्क सोना। रात्रि भयंकर है, नगर विदेशी सैनिकों से भर रहा है और तुसाष्प की दृष्टि परुष दिखाई पड़ती है। तुम जानते हो, सम्राट्, वह पराजित पार्थवों का प्रतिनिधि है।

"होने दो, गुरुदेव। अब भौतिक उपकरणों की लालसा नहीं। तुम्हारी दीक्षा का लाभ मेरी कलुषित प्रवृत्तियों को होगा। कल मैं साम्राज्य संघ की सेवा में प्रदान कर दूँगा। देनेवाले से कोई क्या छीन सकता है?" सम्राट् ने उत्तर दिया।

नागार्जुन भी धीरे धीरे कक्ष से बाहर निकल गया। जाते जाते उसने वसुबन्धु से कहा—वसु, रात्रि अँधेरी है। पौर मातंग को तनिक जागरूक कर दो।

रात्रि के तीसरे पहर के अंतिम क्षणों में चराचर सोता था। दुर्ग के सजग प्रहरी भी ऊँघने लगे थे। आज निशीथ में जिन नए प्रहरियों का पहरा बैठा था, उनमें अधिकांश खुत्तन के थे। उनके नेत्रों में नींद न थी।

घड़ियाल के साथ ही दुर्ग के बाहर दूर पर किसी ने तूर्यध्वनि की। सहसा दुर्ग में कुछ हलचल होने लगी। कनिष्क के विश्वस्त प्रहरी धीरे धीरे सर्वत्र बँध गए। फिर तूर्य-ध्वनि हुई।

एक विशालकाय सैनिक यकायक दुर्ग के अग्निकोण से निकला और राजप्रासाद की ओर चला। उसका सारा शरीर एक काली चादर से ढका था। पाँच दीर्घ सैनिक दबे पाँव उसके पीछे चल रहे थे।

पार्श्व-कक्ष की शस्त्रधारिणी यवनी गहरी नींद में थी। उसकी छाती में जब कटार घुसी एक चीत्कार तक न निकला। विशालकाय सैनिक ने अनुचरों के साथ सम्राट् के शयनकक्ष में प्रवेश किया। कनिष्क काश्मीर के भारी शालों से ढका सुखनिद्रा में सो रहा था। महादान की अभितृप्ति उसके होंठों पर विराज रही थी। मुखमुद्रा उसकी विकसित थी। परंतु सैनिक ने उसके स्वप्न की अभिलाषा भी न पूरी होने दी। उसने जब तक सम्राट् का मुख उसके शाल से ढका, खुत्तन की विकराल कटार उसके वक्ष में जा घुसी। सम्राट् ने अपने हत्यारे तक को न जाना।

परंतु अभी हत्यारा शयनकक्ष से बाहर भी न निकल सका था कि पौर ने सम्राट् की शरीररक्षक सेना के साथ हत्यारों को घेर लिया। शरीररक्षक सेना के आगे था पौर और उसके पार्श्व में था दार्शनिक वसुबन्धु। परंतु वसुबन्धु सतर्क रहकर भी देर में पहुँचा। वह सम्राट् को न बचा सका। धराशायी विशालकाय सैनिक का जब उसने अवगुंठन हटाया वह दो पग पीछे हट गया।

सम्राट् के हत्यारे उसके चिरप्रसादलब्ध विश्वस्त सेनापति तुसाष्प को उसने पहिचाना।